विद्यापीठग्रन्थमालाया एकोनसप्ततितमं पुष्पम्

श्रीरामावतारशर्म-प्रणीता

चित्रबन्धावतारिका

डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठि-विरचिता-

लक्षण-लक्षिका-रूप-हिन्दी-वन्दना-वृत्ति-वन्दिता

प्रधानसम्पादकः

डॉ० मण्डनमिश्रः

सम्पादकः

डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

मानितविश्वविद्यालयः

नवदेहली

BVP-155-18-4-16

G-2449

विद्यापीठग्रन्थमालाया एकोनसप्ततितमं पुष्पम्

श्रीरामावतारशर्म-प्रणीता

चित्रबन्धावतारिका

डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठि-विरचिता

लक्षण-लक्षिका-रूप-हिन्दी-**वन्दना**-**वृत्ति**-वन्दिता

प्रधानसम्पादक:

डॉ० मण्डनमिश्र:

सम्पादक:

डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी

प्रकाशनस्थलम् :

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

मानितविश्वविद्यालय:

नवदेहली

प्रकाशकः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
मानितविश्वविद्यालयः
कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्,
नवदेहली–११००१६

प्रथमसंस्करणम् : १९७७ ई०

पुनर्मुद्रितसंस्करणम् : २००९

ISBN : 81-87987-31-6

मूल्यम् : ५०/-

मुद्रकः
अमरप्रिण्टिगप्रेसः
विजयनगरम्, दिल्ली – ११०००९

अनुक्रमणिका

चित्रकाव्याभिशंसनम्—

वाचां विन्यासवैचित्र्यं व्यञ्जयन्ती विपश्चिताम् ।
चिरं विप्रीयतां वित्तं, चित्रकाव्यस्य पद्धतिः ॥ १ ॥
एकत्र येऽद्भुतरसाप्लुतमञ्जुदृश्यं,
श्रव्यं च काव्यमवलोकयितुं लषन्ति ।
अन्तर्निलीनबहुचित्रकवित्वपूर्णां,
ते चित्रपद्धतिमिमां परिशीलयन्तु ॥ २ ॥
नहि कनकपरीक्षाऽऽस्वादगन्धादिभिः स्या—
दपि तु भवति नित्यं घर्षणच्छेदना ैः ।
सुमतिरपि तथैव प्रत्यहं रास-लास—
प्रहसनपरिलीनाऽप्यत्र चित्रे परीक्ष्या ॥ २ ॥
घृष्टं घृष्टं वितरति सदा चन्दनं चारुगन्धं,
शाणोल्लीढो मणिरपि भवेत् कान्तिमान् मूल्यवांश्च ।
शस्त्रं योद्धुर्भवति निशितं युद्धमध्ये प्रयोगाद्,
बुद्धिस्तद्वज्जडिमहृतये चित्रकाव्येऽत्र शोध्या ॥ ४ ।

अभ्यर्थना च—

गैर्वाण्याश्चिररक्षणाय मनसा बद्धादरा धीधना-
स्त्यक्त्वा मोहमवाप्तपुस्तकधनं संरक्ष्यतां यत्नतः ।
तस्मिन् माऽस्तु मतिः कदापि विरसा क्लिष्टत्वदृष्टचा वृथा,
क्लिष्टं ग्रावहृदो न किं सृतिमिता गङ्गा जगत्पावनी ॥ ५ ॥
क्लिष्टं क्लिष्टमितीह यन्निगदितं लोकाननाद् श्रूयते,
किं वा वाञ्छितसिद्धये प्रतिपदं सारल्यमेवेष्यते ।
भ्रान्तास्ते न विदन्ति यद्धि कठिनादिक्षो रसं निःसृतं,
नीत्वैवाखिलमिष्टवस्तुरचनं सञ्जायते भूतले ॥ ६ ॥
संस्कृतं संस्कृतेर्मूलं, विद्याः शाखाश्च पल्लवाः ।
काव्य-नाटच-प्रकारा ये, चित्रकाव्यं तु तत्फलम् ॥ ७ ॥
पीयतां परममोदनिर्भरां, चित्रकाव्यगतमाधुरीं बुधाः ।
संस्कृतेश्च परमोज्ज्वलं यशो, भूतले निरतमेव चीयताम् ॥ ८ ॥

—डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी

प्रास्ताविकम्

विद्यापीठस्य प्रकाशनेषु **'लघु-ग्रन्थ-प्रकाशन-योजना'**मनुसृत्य महामहोपाध्याय-श्रीमद्-रामावतारशर्म-महाभागानां पूर्वमप्रकाशितां सङ्कलनरूपां साम्प्रतं **'चित्रबन्धावतारिका'**भिधानमण्डितां कृतिमिमां विदुषां पुरः प्राभृतीकुर्वतो ममान्तरङ्गं नितान्तमानन्दसन्ततिमनुभवति ।

दिल्लीस्थ-श्रीलालबहादुर-शास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृतविद्यापीठमिदं प्रारम्भादेव संस्कृत-संस्कृत्योः परिरक्षणाय विकासाय प्रसाराय च बद्धपरिकरं विद्यत एव । अद्य यावदस्य कर्म-कलापेषु नानाविधाः संस्कृत-प्रवर्धिन्यः प्रवृत्तयो नातितिरोहिता विपश्चिदपश्चिमानाम् । अध्यापनेन सहैवानुसन्धान-कर्मणः सत्साहित्य-प्रकाशन-कर्मणश्चात्र स्वीकृत्या विद्यापीठान्तर्गत एव 'अनुसन्धान-प्रकाशन-विभागो'ऽपि प्रवर्तितः सन् विद्यार्थिनां शोधबोधाय चेष्टते प्रतिवर्षं केषाञ्चिन् महत्त्वपूर्णग्रन्थानां च प्रकाशनं करोति । अस्यामेव प्रवृत्तौ पूर्वं षाण्मासिक-रूपेण 'अध्ययनमाला'नाम्ना प्रकाशनमेकं शोध-पत्रिकारूपमपि प्रारब्धम् ।

तस्या एव स्मृतिग्रन्थयोः पूर्वमतिरिक्त-मुद्रणसौविध्यमाध्यमेन **'जीवन-परिमल-रस-मीमांसा-राघवाह्निक-श्रीमहावीर-चरितमृत'**-नामकानां लघु-पुस्तकानां **'प्रवचन-पारिजात-भारत-भूषण'योश्च** प्रकाशनमपि विहितम् ।

एषमोऽस्या अध्ययनमालाया एव 'अन्वेषणा' इत्यभिधानं स्वीकृत्येदम्प्रथमतया तस्या विशेषाङ्कोऽपि प्रकाशितः । तस्मिन्नेवातिरिक्तमुद्रणद्वारा लघु-पुस्तकस्यास्येदं प्रकाशनं सम्पन्नम् ।

अत्रास्य सम्पादको डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी स्वपरिश्रमेण पूर्वं प्राप्तानि श्रीशर्म-महाभागानां चित्रपद्यानि सङ्कलय्य पुस्तकरूपेण निरबध्नात् किञ्च सहैव प्रत्येकं पद्यस्य चित्र-निर्माण-पाठ-प्रकारयोर्लक्षणं प्रदर्शयितुं भाषायामेव 'वन्दना-वृत्ति' विरच्य यथावश्यकतां च लक्षण-पद्यान्यपि संयोजितवानिति वस्तुतो मनस्तोषाय ।

अहं डॉ० त्रिपाठिने साधुवादान् वितीर्य कामये यदस्याः साहित्यिककृतेः परिशीलनं विधाय विद्वांसः सम्पादकस्योत्साहं वर्धयिष्यन्तीति ।

विदद्वशंवदः

डॉ० मण्डनमिश्रः, प्राचार्यः

पुरोवाक्

[सम्पादकीय]

चित्र और उसका लक्षण-विकास (ऐतिहासिक-विश्लेषण)

शब्दालङ्कार के अन्यतम भेदों में गृहीत चित्रालङ्कार में 'चित्र' शब्द का तात्पर्य अद्भुत, आश्चर्य अथवा विचित्र के साथ ही आलेख्यगत-वर्णविन्यास द्वारा चित्र की समानता स्वीकृत किया है तथा चित्र शब्द की व्युत्पत्ति 'चित्तं राति' इस प्रकार करते हुए 'चित्त को आकृष्ट करनेवाली वस्तु को 'चित्र' कहा है। भरत ने यमक के प्रभेदों में ही चित्रात्मकता दिखलाई है किन्तु इसका पृथक् निर्देश नहीं किया है। भामह भी भरत के अनुसार ही इस अलङ्कार-भेद के सम्बन्ध में मौन रहे हैं, किन्तु वे अच्युत शर्मा द्वारा प्रयुक्त प्रहेलिका आदि के बारे में परिचित अवश्य हैं। दण्डी ने दुष्कर-गोमूत्रादिक चित्रमार्ग-चित्रालङ्कारों[1] का वर्णन अवश्य किया है किन्तु चित्रालङ्कार का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया। उद्भट ने इस दिशा में उदासीनवृत्ति ही अपनाई है। वामन भी यमक के वर्णन तक ही सीमित रहे। अतः चित्र को शब्दालङ्कारों में स्थान देकर उसका व्यवस्थित स्वरूप प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य रुद्रट ही हैं। इनके पाँच शब्दालङ्कारों में अन्तिम चित्रालङ्कार है[2] तथा उसका लक्षण इस प्रकार दिया है —

"जहाँ काव्य में विविध भङ्गी-विशेष के आधार पर क्रम और अक्षरों की विन्यास-विचित्रता के द्वारा साङ्क (नाम-धामादि के अङ्कनयुक्त) अथवा आश्चर्यकारी वस्तुओं के रूपों की रचना की जाए, उसे चित्र-चित्रालङ्कार कहते हैं[3]।" यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'काव्य में वस्तु के रूप कैसे बनाये जा सकते हैं? इसका उत्तर लक्षण में प्रयुक्त 'भङ्ग्यन्तर' की व्याख्या करते हुए नमिसाधु ने दिया है, तदनुसार चक्रादिविच्छित्ति से गर्भित जो प्रसिद्ध रचना-परिपाटी है उसमें अक्षरों को निमित्त बनाकर विन्यासविशेष से तथा नाम-धामाङ्कन अथवा अन्य विचित्र-सर्वतोभद्र,

---

१. शब्दार्थालङ्क्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः ॥ काव्यादर्श ३।१८६ ॥

२. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्। शब्दस्यालङ्काराः।
काव्यालङ्कार, रुद्रट ॥ २।१३ ॥

३. भङ्ग्यन्तरकृत-तत्क्रमवर्णनिर्मितानि वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ॥ वहीं ५।१।

अनुलोम-प्रतिलोम आदि प्रकारों से वस्तु के विस्मियोत्पादक रूप होते हैं[1]। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने चित्र की परिभाषा—व्यङ्ग्य द्वारा प्राप्त प्रधान और गौणभावों के अतिरिक्त रसभावादि-तात्पर्य-से रहित, व्यङ्ग्यार्थविशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य, केवल वाच्य-वाचक-वैचित्र्य मात्र के आश्रय से निबद्ध, आलेख्यरूप जो दिखाई देता है, उसे चित्र कहते हैं तथा उसके शब्द-चित्र और अर्थचित्र ऐसे दो भेद होते हैं'— इत्यादि की है तथा रसभावादि-विवक्षा के अभाव में अलङ्कार मात्र का निबन्धन ही चित्र का विषय माना है।[2] अभिनवगुप्त ने भी इसकी टीका करते हुए इन्हीं विचारों को प्रमुखता दी है।

राजशेखर ने लक्षण न देकर केवल चित्र की उत्पत्ति चित्राङ्गद से बतलाई है।[3] अग्निपुराण में शब्दालङ्कार के नौ भेदों में चित्र और दुष्कर को अन्तिम दो भेदों में प्रदर्शित किया है तथा इनके लक्षण में कहा है कि—'गोष्ठी में पठनमात्र से कुतूहल उत्पन्न करने वाला कवि का 'वाग्बन्ध—वर्ण-गुम्फन' चित्र कहलाता है।[4] तथा दुःखपूर्वक किये गये प्रयास से निर्मित कवि-सामर्थ्य का सूचन करने वाली रचना को दुष्कर कहते हैं, यद्यपि ऐसी रचना नीरस होती है फिर भी वह विदग्धजनों के लिये उत्सव-जनक कहलाती है।[5] भोज ने चित्र के लक्षण को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति और बन्ध के प्रति जो नियमन है, उसे चित्र कहते हैं।[6] और वहीं टीका में रामसिंह ने कहा है कि चित्र को भित्तिचित्र के समान

---

१. द्रष्टव्य काव्यालङ्कार, ५वें अध्याय के प्रथम पद्य की व्याख्या।

२. प्रधानगुणभावाभ्यां, व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन, द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं, वाच्यचित्रमतः परम्॥
रसभावादिविशयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः, स चित्रविषयो मतः॥ —ध्वन्यालोक

३. चित्रं चित्राङ्गदः। काव्यमीमांसा, प्रथमाध्याय।

४. वाकोवाक्यमनुप्रासश्चित्रं दुष्करमेव च।
ज्ञेया नवालङ्कृतयः शब्दानामित्यसङ्करात्॥ अग्निपुराण ३४२-२०॥
गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी, वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते॥ वहीं ३४२-३२॥

५. दुःखेन कृतमत्यर्थं, कविसमर्थ्यसूचकम्।
दुष्करं नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवः॥ वहीं ३४३ ३२॥

६. वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः।
नियमस्तद बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २।१०६॥

काश्मीरवासी जीवित-स्थानीय ध्वनि से रहित कहते हैं, क्योंकि ध्वनि की प्रधानता को सर्वत्र स्वीकार नहीं किया गया और यह सम्भव भी नहीं है कि सर्वत्र ध्वनि रहे ही। इसी प्रकार आकृति-विशेष से जो मुक्त है उसे चित्र कहते हैं यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह लक्षण व्यापक नहीं है। इसलिये वर्णादि-नियमन के द्वारा प्रवृत्त आश्चर्यकारिता का अर्थ ही चित्रलङ्कार में स्थित चित्र शब्द से अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त भोज ने वर्णादि का क्रमशः अर्थ भी निश्चित किया है। यथा—वर्ण-व्यञ्जन, स्थान-कण्ठादि, स्वर-अकारादि, आकार-पद्मादि आकृतियों का विकास, गति-पठन का प्रकार-विशेष और बन्ध-विविडित चक्रादि।

इसी परम्परा में आचार्य मम्मट ने भी जहाँ अक्षरों की रचना खड्गादि आकृति की हेतुरूप होती है, उसे चित्र कहा है।[1] रुय्यक ने मम्मट के कथन को ही दुहराया है, किन्तु उसे पृथक् रूप से कहने का कारण यह बतलाया है कि 'पौनरुक्त्यमूलक-शब्दालङ्कारों में और इन चित्रलङ्कारों में भेद है, क्योंकि स्थान-विशेष में लिखे हुए वर्णों की जो पाठपुनरुक्ति होती है, उसे सिद्धान्ततः पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से चित्रालङ्कार को शब्दालङ्कार कहना भी न्यायसङ्गत नहीं है, किन्तु लिपि के अक्षर को श्रोत्रसमवायी शब्द की भाँति सामान्यजन शब्द ही समझते हैं तथा साधारणतया लिपिवर्णों को देखकर यही प्रतीति भी होती है, अतः शब्द की लिपि-वर्ण के साथ एकात्म-प्रतीति को लेकर औपचारिक रूप में चित्रालङ्कार को भी शब्दालङ्कार ही माना गया है।[2] हेमचन्द्र तथा वाग्भट (प्रथम) ने चित्र का लक्षण न देते हुए चित्रालङ्कारों के नाम देकर ही उन्हें चित्रलक्षण में प्रस्तुत किया है।[3] शोभाकर मित्र ने पद्मादि की लिपि के समान चित्रों को चित्रालङ्कार कहा है तथा वृत्ति में स्पष्ट किया है कि 'नियमितस्थान' निवेश की दृष्टि से किये गये लिप्यक्षरों के निमित्तभूत प्रतिलोम-अनुलोम-अपशब्दाभासादि जब आश्चर्य उत्पन्न करते हैं तो उसे चित्र कहते हैं।[4] तथा इसमें गूढ-प्रहेलिकादि को पृथक् माना है।

---

१. तच्चित्रं यत्र वर्णानां, खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥ काव्यप्रकाश ३-१२१ ॥

२ वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् ॥ अलङ्कारसर्वस्व पृ० ३०
पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्ट-पौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्। यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकः शब्दालङ्कारोऽयम्। (वही)

३. स्वरव्यञ्जन-स्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादिचित्रम् ॥ काव्यानुशासन ५-४ ॥

४. पद्मादिलिपिवर्णावच्चित्रम् ॥६॥ तथा-नियतस्थाननिर्देशित्वेन यत्र लिप्यक्षराणि निमित्तीभवन्ति प्रतिलोमापशब्दाभासादिनियताश्चर्यकारितया तच्चित्रम् ॥
—अलङ्काररत्नाकर।

विष्णुधर्मोत्तर-पुराण में प्रहेलिकाओं के अनेक भेद दिये हैं इस से उसकी चित्रालङ्कार के प्रति रुचि अवश्य थी, ऐसा ज्ञात होता है। नरेन्द्रप्रभ, अमरचन्द्रयति, जयदेव, विद्याधर और विश्वनाथ ने चित्र के लक्षण में प्राचीनों का ही अनुसरण किया हैं। विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुसरण किया है तथा रुय्यक-प्रतिपादित आकार-समवेतवर्णों के पद्माद्याकारनिष्ठ वर्णों से औपचारिक अभेद को ही चित्रालंकार कहा है।[1] वाग्भट द्वितीय और केशवमिश्र भी इसी परम्परा के समर्थक हैं।[2] कर्ण-पूर ने भगवद्विषया रति से सम्पन्न चित्रालङ्कार को इक्षुपर्वचर्वण के समान कुछ रसदायी माना है और इसके अतिरिक्त को नीरस।[3] अप्पय दीक्षित ने चित्र-मीमांसा के ग्रन्थारम्भ प्रकरण में 'व्यङ्ग्यहीन होते हुए भी जो रमणीय हो, उसे चित्र कहा है।[4] इसी प्रकार अन्यान्य अनेक आचार्यों ने भी इसी परम्परा का निर्वाह तो किया है किन्तु वे लक्षण में कोई नवीनता नहीं दे पाये हैं।

उपर्युक्त लक्षण-विकास से यह ज्ञात होता है कि कुछ आचार्यों ने चित्रा-लङ्कार को विभिन्न क्रम से भी वर्णित किया है। जिनमें वाग्भट द्वितीय ने चित्रा-लङ्कार को शब्दालङ्कारों में प्रथम स्थान दिया है। जबकि कुछ ने शब्दालङ्कारों में अन्तिम स्थान दिया है। कुछ आचार्यों ने सर्वथा हेय मानकर भी परम्परानिर्वाह के लिये लक्षणोदाहरण दिये हैं तो कुछ आचार्यों ने इसके विवेचन में पूरा मनोयोग भी दिया है।

चित्रालङ्कार-सम्बन्धी अन्य धारणाएँ

चित्रालङ्कार के विषय में आचार्यों की धारणा एक समान नहीं है। प्रारम्भ में अनास्था, मध्यकाल में दृढ आस्था और उत्तरकाल में आस्था-अनास्था, इस प्रकार दोलाचल वृत्ति रही है। उपर्युक्त लक्षण-विकास से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

---

१. पद्माद्याकारहेतुत्वे, वर्णानां चित्रमुच्यते ॥ १०-१३ ॥
अपि च तथाविधलिपिसंनिवेशवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविध-श्रोत्राकाशसमवाय-विशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णाभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्का-रत्वम्। —साहित्यदर्पण

२. चित्रश्लेषानुप्रासवक्रोक्तियुक्तियमकपुनरुक्तवदाभासाः। आकारगतिस्वरव्यञ्जन-स्थाननियमच्युतगुप्तादिभेदैरनेकधा चित्रम् ॥—(वाग्भट द्वितीय, काव्यानुशासन)

३. चित्रं नीरसमेवाहुर्भगवद्विषयं यदि।
तदा किञ्चिच्च रसवद्यथेक्षोः पर्वचर्वणम् ॥ —अलङ्कारकौस्तुभ ७-२१४ ॥

४. यदव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम् ॥ —चित्रमीमांसा।

इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण ही चित्र और उसके प्रभेदों के बारे में ऐकमत्य नहीं रह पाया है तथा भिन्न-भिन्न आचार्यों ने विभिन्न दिशा-निर्देश करते हुए क्रम-स्थापन और प्रभेदसूचन किये हैं। उदाहरणार्थ प्रहेलिका को दण्डी और रुद्रट ने गोष्ठी में कौतूहलजनक मात्र माना है। भोज ने इसको स्वतन्त्र शब्दालङ्कार बतलाया है। मम्मट, रुय्यक, शोभाकर और श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्रपरकाल आदि ने इसका विवेचन ही नहीं किया है। जब कि अग्निपुराणकार, हेमचन्द्र, विश्वेश्वर आदि ने स्पष्टतः चित्रालङ्कार ही माना है। ऐसी ही कुछ स्थिति अन्य चित्रालंकार'च्युत, गूढ और प्रश्नोत्तर' के सम्बन्ध में भी परिलक्षित होती है।

कुछ प्रश्न कुछ समाधान

इस सम्बन्ध में तीन प्रश्न प्रायः उपस्थित होते हैं— १—चित्र अलङ्कार है अथवा नहीं ? २—शब्दालङ्कार है अथवा नहीं ? और ३—चित्रालङ्कार शब्दालङ्कार का अन्यतम भेद है या नहीं ?

प्रश्न १— चित्र अलंकार है अथवा नहीं ?—

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए निम्नलिखित छः निष्कर्षों के आधार पर विचार करने से इन चित्र-प्रभेदों की अलंकारता सिद्ध हो जाती है।

यथा—१. चमत्कृतिपूर्ण-वर्णन, २. चमत्कार और अनुरञ्जन की भावना, ३- अलंकृतिकार की आत्मा का उल्लास तथा ओज का सद्भाव, ४. अभिव्यक्ति की आवश्यकतापूर्ति, ५. रस से सम्बन्ध और हृदय साक्ष्य तथा ६. मानसिक चित्रों की स्पष्टता, विचारों की पुष्टि, सादृश्य संस्थापन, रचना क्रम, विरोधादिजन्य चमत्कार, प्रभाववर्णन, भाषागत सजीवता एवं शब्द-माधुर्य। इनमें से अधिकांश बातों की स्थिति इन प्रभेदों में अवश्य रहती है। अतः इन्हें अलंकार मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, अतिरिक्त इसके कि कोई सम्प्रदायगत दुराग्रह न हो।

प्रश्न २— चित्र शब्दालंकार है अथवा नहीं ?—

इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी शब्दालंकार की परिभाषा उत्तम है। तदनुसार वहाँ १. ध्वनि का आश्रय, २. शब्द-चमत्कृति की प्रमुखता, ३. शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व, ४. शब्दों के ध्वनिरूप गठन से अर्थप्रसार में सहायता ५. स्वर-व्यञ्जन, शब्द अथवा पद का सुसज्जित विन्यास तथा ६. वर्ण-कौतुक एवं क्रीडा आदि गुणों की स्थिति से शब्दालंकार होता है। इस दृष्टि से प्रहेलिकादि भेदों में उपर्युक्त गुण यथावस्थित दृष्टिगोचर होते हैं, अतः इन्हें शब्दालङ्कार मानने में अनौचित्य नहीं लगता।

प्रश्न ३— चित्रालंकार शब्दालंकार का अन्यतम भेद है या नहीं ?—

चित्रालकार की विशुद्ध परिभाषा है—१. चित्ताकर्षण, २. विन्यास-वैचित्र्य, ३. विस्मयकारित्व, ४. वाच्य-वाचक वैचित्र्य, ५. कुतूहलोत्पादक वाग्बन्ध तथा ६. वर्णादिनियमन के द्वारा प्रवृत्त विच्छित्ति-वैशिष्टच। विविध लक्षणों के आधार पर संगृहीत इन लक्षणों के साथ तुलना करने से प्रहेलिकादि-चित्रकाव्यों को चित्रालंकार मानना भी बुद्धिगम्य है।

हाँ, यह कहा जा सकता है कि 'इनमें निहित चमत्कार के कारण अर्थ-प्रतीति में क्लिष्टता आती है, अप्रयुक्त शब्दों और क्रियाओं का बलात् प्रयोग किया जाता है' रसचर्वणा में धारावाहिता का अभाव आ जाता है तथा पाण्डित्य की सतत अपेक्षा रहती है, किन्तु ये कोई ऐसे दोष तो नहीं है जिनसे इनका सर्वथा बहिष्कार ही किया जाए तथा जिन रचनाओं को रसपूर्ण और सहृदय-ग्राह्य कहा जाता है उनमें भी इनमें से एक-दो दोष तो किसी न किसी रूप में आ ही जाते हैं। जैसे पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनाद्' इत्यादि पद्य में दिखाया है।[1]

क्रम-सूचन—इसके अतिरिक्त कतिपय आचार्यों ने इन चित्रालंकारों को कहीं 'जाति' के रूप में, कहीं प्रश्नोत्तर के रूप में तथा कहीं च्युत एवं गूढादि के रूप में परस्पर मिश्रित भी कर लिया है। ऐसी स्थिति में हम उन सभी प्रभेदों को चित्र में ही स्थान देना उचित मानते हैं।

चित्रालंकार के नाम—रुद्रट ने यह स्पष्ट कहा है कि 'जिस वस्तु विशेष का जो नाम हो वही उस अलंकार का नाम होगा तथा जो उसकी आकृति होगी, वही उसका लक्षण समझना चाहिए।' और भविष्य में ऐसी रचना करनेवालों को भी इसी पद्धति से लक्ष्य निर्धारित करके अपनी रचना करने का संकेत भी वहीं रुद्रट ने दिया है।[2] अन्य आचार्यों के भी यही मन्तव्य है।

चित्रालंकार के भेद—रुद्रट ने इस अलंकार के भेदों के सम्बन्ध में कहा है कि—अनुलोम-प्रतिलोम, अर्धभ्रम, मुरज, सर्वतोभद्र आदि तथा अन्य भेदों के कारण मैं चित्रालंकारों की गणना करने में असमर्थ हूँ। इसलिये हे कविजनो ! मेरे द्वारा यहाँ केवल दिशानिर्देश ही किया जा रहा है।[3] इसी आशय को उत्तरकाल के आचार्यों

---

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन। पृ० ६०

२. यन्नाम नाम यत् स्यात् तदाकृतिर्लक्षणं मतं तस्य।
तल्लक्ष्यमेव दृष्ट्वाऽवधार्यमखिलं तदन्यदपि॥ —काव्यालंकार ५।५॥

३. तच्चक्रखड्गमुसलैः—से दिङ्मात्रमुदाहृतं कवयः॥ वहीं ५।४॥

ने भी अन्यान्य शब्दों में दुहराया है, अतः इयत्ता-निर्धारण सम्भव नहीं है।

चित्रालंकार-सम्बन्धी इस विस्तृत चर्चा के अतिरिक्त भी कुछ बातें ऐसी हैं जो कि चित्र-काव्य की प्रक्रिया के जिज्ञासुओं के लिये ज्ञातव्य हैं। इनमें मुख्यरूप से 'आकार-चित्र' ही प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत हैं, अतः उस पर भी संक्षिप्त विचार यहाँ देना अनुचित न होगा।

आकार-चित्र और उनका वर्गीकरण

उपर्युक्त चित्र—चित्रकाव्य अथवा चित्रालंकार का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। प्रतिक्षण नवीनता का परिधान धारण कर इस साहित्य ने अपनी अनन्तता को अक्षुण्ण रखा है। हम देखते हैं कि वाणी की शृंगार-सज्जा में युगों से संलग्न कवि कभी मंगलमय चित्राकृतियों में वर्णों का रंग भरता रहा है, तो कभी वन के वैभव पर मुग्ध होकर उसे आत्मसात् करने को उद्यत हुआ है। उसके वर्णरत्न हमारे हृदय की प्रसुप्त चमत्कृति-वासना को झकझोर कर, कभी आभरणों में अपनी सुषमा को को मूर्त-रूप देते हैं, तो कभी सैन्यसञ्चार की सीमा में शस्त्र और अस्त्रों का सहयोग प्राप्त करते रहे हैं। प्राणियों की अनेकरूपता भी उसकी आँखों से ओझल नहीं होती और वह नित्य की व्यावहारिक प्रकीर्ण वस्तुओं पर भी अपनी प्रतिभा का अभिषेक करता है।

वर्गीकरण का तथ्य—ऐसी स्थिति में प्रस्तुत साहित्य को हम जब वर्गीकृत करना चाहते हैं, तो विषयसाम्य की दृष्टि से निम्न छः वर्गों में उसे विभक्त कर सकते हैं—

१. मंगलमय-चित्र	**२. वनवैभवात्मकचित्र**	**३. आभरणचित्र**
४. शस्त्रास्त्र-चित्र	**५. प्राणि-चित्र**	**६. प्रकीर्ण-चित्र**

इस विभाजन का आधार केवल विषय-साम्य और वस्तु-साम्य ही है। इसी प्रकार उपर्युक्त वर्गों के नामकरण में भी केवल चित्रों के पीछे निहित भावना को ही प्राथमिकता दी जाती है।

हमने इन्हीं वर्गों को ध्यान में रखकर **'चित्रबन्धावतारिका'** के बन्धों का भी यहाँ वर्गीकरण किया है।

चित्रकाव्य की विशिष्ट मर्यादाएं—चित्रकाव्य के निर्माण में आनेवाली कतिपय कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन आचार्यों ने कुछ सुविधाएँ निर्धारित कर दी हैं, जिनके सहयोग से चित्र कवि अपनी रचना को सरलता से प्रस्तुत

कर सके। प्रायः यह देखा जाता है कि आकार-चित्रों में कुछ वर्ण ऐसे रहते हैं, जिनकी आवृत्ति एक से अधिक बार होती है तथा वह वर्ण व्याकरण के नियमानुसार सन्धिनियमों अथवा ऐसे ही अन्य किसी नियम के कारण रेफ, अनुस्वार अथवा विसर्ग से संयुक्त रहते हुए भी आवृत्ति के समय छन्दो-निर्वाह के लिये ह्रस्व अथवा दीर्घ माना जाता है। इसी प्रकार 'र और ल, ड और ल, व और ब', को भी आवृत्ति में शब्द-विशेष के अर्थ-सौकर्य के लिये अभीष्ट अक्षरों की पूर्ति में सहयोगी बनाने पड़ते हैं। अभियुक्तोक्ति पद्य—

रलयोर्डलयोस्तद्वल्ललयोर्बवयोरपि ।
नणयोर्नमयोश्चान्ते, सविसर्गाविसर्गयोः ।।
सविन्दुकाबिन्दुकयोः, स्यादभेदेन कल्पनम् ।

इत्यादि भी चित्रकवि के लिये परम्परा से उपलब्ध होते आये हैं।

इसी प्रकार आकारचित्रों के रूपविधान, चित्रबन्ध में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द, श्लिष्ट, इष्टपद, आवृत्ति, भ्रमण, लोम-विलोम आदि शब्द भी ज्ञातव्य हैं। न्यास-स्थान एवं पठन-प्रक्रिया इन दोनों के आधार पर ही चित्र-बन्धों की वास्तविकता निहित है। अतः इन सब का विचार करके इस साहित्य का अध्ययन-आस्वाद अभिप्रेत है।

'चित्रबन्धावतारिका' प्राप्ति और प्रकाशन

आज से कुछ वर्ष पूर्व जब मैं अपने शोध-प्रबन्ध 'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार' के आलेखन में तल्लीन था, तब सागर विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापक **श्रद्धेय डा० रामजी उपाध्याय** ने वहीं विश्वविद्यालय में एक संगोष्ठी आयोजित की थी। उसी में सम्मिलित होने के लिए मैं वहाँ पहुंचा और उन्हीं दिनों प्रासङ्गिक चर्चा के कारण वहाँ के एक मित्र, जो कि म० म० रामावतार शर्माजी पर ही शोध-कार्य कर रहे थे, एक रजिस्टर लाए और उसमें लिखित चित्रबन्ध और पद्य दिखाते हुए बोले—'ये आपके काम में आ सकते हैं।' मैंने देखकर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उसी समय वे पद्य और चित्र यथावत् उतार लिए और अपने शोध-प्रबन्ध में भी उनका यथावश्यक उपयोग किया।

कई दिनों से मेरे मन में उनका प्रकाशन देखने की इच्छा बनी रही। स्व० श्रीरामावतार शर्मा जी से सम्बद्ध स्मृतिग्रन्थ और निबन्धावली भी छपीं, उनमें भी इन चित्रबन्धों के बारे में टटोला, किन्तु कुछ हाथ नहीं लगा। तब तो इन्हें प्रकाश

में लाने की मेरी भावना और दृढ होती गई।

ये चित्रबन्ध-पद्य जिस रजिस्टर से प्रतिलिपि किए गए थे वह 'मोदगिरि (मुंगेर) राजकीय विद्यालय के भूतपूर्व प्रधान संस्कृताध्यापक तथा श्रीशर्मा जी के प्रिय अनुज एवं शिष्य 'श्रीकान्त शर्मा' जी द्वारा संगृहीत थे। अतः निश्चित ही ये महामहोपाध्याय जी द्वारा रचित हैं इस विश्वास के साथ मैंने इस संग्रह का नाम **'चित्रबन्धावतरिका'** रखना उचित समझा। ये बन्ध विभिन्न शैलियों की नवीन अवतारणा करनेवाले हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने वाले हैं और साथ ही अपनी प्रौढ़ता से भी संवलित हैं, अतः यह नामकरण उचित ही प्रतीत होगा।

'भारतगीतिका' में स्वयं महामहोपाध्यायजी ने लिखा है कि—

यत्पूर्वजैर्विपिनवासपरैस्तृणाय, मत्वा धनं भगवदेकसहायसुस्थैः।
ग्रन्था व्यधायिषत हन्त ! परः सहस्राः, सीदन्ति ते कथमिवान्यजनाशयाद्य ॥

यहाँ 'सीदन्ति' क्रिया के स्थान पर 'सीदन्तु' पाठ बनकर मुझे प्रेरित करता रहा, उसी का परिणाम यह प्रकाशन है।

कुछ साहस और 'वन्दना-वृत्ति'

इसमें मैंने कुछ साहस भी किया है, वह यह कि १—जो केवल आकृति में ही चित्रबन्ध लिखे थे उनके श्लोकों का पाठ निर्धारित किया, २—जो केवल श्लोक थे उनके चित्र बनाकर उन्हें सुस्थान पर बिठाया और ३—उनके लक्षण निर्धारित किए। इसके साथ ही चौथा कार्य यह भी किया कि जो बन्ध अथवा पद्य अपूर्ण थे उन्हें कोष्ठक में लिख कर पूर्ण किया।

एक धुरन्धर विद्वान् की कृति के अंशों को पूर्ण करने का यह दुःसाहस उनके प्रति भक्तिवश ही मैंने किया है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी 'वन्दना-वृत्ति' में जिन चित्रबन्धों के लक्षण नहीं मिलते थे उनके लक्षण भी स्वबुद्ध्या बना ही दिए हैं। और जो लक्षण पूर्वाचार्य से मिले हैं उन्हें यथावत् लिख दिया है। चित्रबन्धों का साहित्य लक्षण, आकृति और मूलपाठ इन तीनों की अपेक्षा रखता है। इनके बिना संशय बना ही रहता है, यह स्पष्ट है। इस लिए मुझे यह सब करना अच्छा प्रतीत हुआ।

चित्रालङ्कार-चन्द्रिका

प्रस्तुन ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर हमने अपनी उक्त पुस्तक के नाम से कतिपय लक्षण पद्यों का उल्लेख किया है अतः इसका संक्षिप्त परिचय देना भी यहाँ आवश्यक है।

यह पुस्तक ग्यारह आलोकों में विभक्त है, जिनमें—

१. चित्रालङ्कार की पूर्वपीठिका, लक्षण तथा भेदों का विवेचन,
२. स्वर, स्थान, वर्ण, गति, प्रहेलिका, च्युत, गूढ़, प्रश्नोत्तर, समस्या तथा भाषारूप चित्रालंकारों के भेद-प्रभेदों का लक्षणोदाहरणसहित विवेचन,
३. आकृति-चित्र-चिन्तन तथा उसके भेद-प्रभेद
४. मङ्गलमय-चित्रबन्ध ,, ,,
५. वनवैभवात्मक-चित्रबन्ध ,, ,,
६. आभरणात्मक-चित्रबन्ध ,, ,,
७. शस्त्रास्त्ररूप-चित्रबन्ध ,, ,,
८. प्राणिरूपात्मक-चित्रबन्ध ,, ,,
९. प्रकीर्णवस्तुरूप-चित्रबन्ध ,, ,,
१०. छन्दोमय-चित्रबन्ध ,, ,,
११. उपसंहार। ,, ,,

इनमें मुख्यरूप से साहित्यशास्त्र एवं काव्य-ग्रन्थों में अब तक उपलब्ध प्रायः सभी चित्रबन्धों के लक्षण तथा उदाहरणों का विशाल संग्रह प्रस्तुत किया गया है। विशेष यह कि इसी में संस्कृत-साहित्य में जिन चित्रबन्धों के उदाहरण प्राप्त हैं किन्तु उनके लक्षण प्राप्त नहीं होते, उनके लक्षण-पद्य भी बनाये गये हैं। इसी प्रकार अन्य भारतीय-भाषाओं में प्राप्त होने वाले कतिपय नवीन चित्रबन्धों की संस्कृत-भाषा में अवतारणा को आवश्यक मानकर उनका अनुकरण करते हुए संस्कृत में नये पद्य और लक्षण भी बनाये गये हैं। यह मेरी अप्रकाशित रचना है।[1]

---

१. चित्रालंकार मेरा प्रिय विषय बना हुआ है। मैंने इसी दृष्टि से कई ग्रन्थों का उद्धार तथा विभिन्न सम्प्रदाय-साहित्य से प्राप्त साहित्य का सङ्कलन भी किया है। इसका कुछ परिचय मेरे डी० लिट० के शोध-प्रबन्ध—**शब्दालंकार साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण**' से प्राप्त होगा।

महामहोपाध्याय पं० श्रीरामावतारशर्माजी

[संक्षिप्त जीवन-परिचय]

स्वयं महामहोपाध्यायजी ने अपना परिचय बहुत से स्थानों पर दिया है। उन के 'धीर-नैषधम्' नामक नाटक के साथ निम्नलिखित छह पद्य छपे हैं जो उनके जीवन-परिचय को प्रस्तुत करते हैं —

विलसत्सरसाचलोत्कलाकलिकाशालिनि सारवे तटे।
श्रुतिधर्मपरम्परा परा छपरा नाम पुरी विराजते ॥१॥

रघुनाथपदाम्बुजार्पणात् परिपूतैः सरयूजलैः श्रिताम्।
श्रुतिपाठपराद्दतेऽमरात् क इमां वर्णयितुं क्षमो भवेत् ॥२॥

अच्छद्मसच्छायवलक्षसूनतुच्छान्यगुच्छोच्छलिताच्छकच्छाम्।
पुण्यां दधत्याः सरयूं स्तनीडे यस्याः कृतार्थं छपरेति नाम ॥३॥

तत्राभवद् भवपदाम्बुजसक्तचेता नेता श्रुतीरितपथस्य किल द्विजन्मा।
दिक्कुम्भिकुम्भतटभारसुकीर्त्तिदामा धामाधिकः प्रथितकोद्रवशर्मनामा॥४॥

सुधारसालिङ्गितभारतीझरे, समुल्लसत्सूरिसभासु भासुरे।
प्रजल्पति प्राप्तविरञ्चिवैभवे, न कोऽद्रवत् कोद्रवशर्मकोविदे ॥५॥

श्रीदेवनारायणशर्मनाम्नस्तदात्मजस्याखिलसूरिमौलेः।
रामावतारेण सुतेन नत्वा, गुरुं कृतं काव्यमिदं मनोज्ञम् ॥६॥ इत्यादि।

श्रीशर्माजी का जन्म बिहारराज्य के सारन जिलास्थित 'छपरा' नगर में ६ मार्च सन् १८७७ ई० को, एक साधनहीन किन्तु विद्याप्रेमी सरयूपारीण ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। अपनी जन्मकुण्डली के साथ ही उन्होंने अपने जन्मसमयादि का सूचक यह पद्य भी लिखा था —

शशिदहननवेन्दुवर्षे, गजवदनस्य तिथौ सिते तपस्ये।
सुरगुरुदिवसे द्वितीयलग्ने जननमगाद् रघुनन्दनावतारः ॥[१]

---

१. स्वनाम नाम्नाददते न साधवः' इस हर्ष कवि की उक्ति के अनुसार उन्होंने यहां अपना नाम रघुनन्दनावतार लिखा है।

इसके अनुसार संवत् १६३१ फाल्गुन शुक्ला ४ गुरुवार को उनका जन्म हुआ था। जन्म समय इष्ट १०।१ था। कुण्डली का स्वरूप इस प्रकार है—

४	३	१ चं.	रा. १२
५	लग्न २	११ बु. सू.	शु. १० श.
के. ६	७. बृ.	८ मं.	९

आपके पितामह का नाम पं० कोद्रव शर्मा तथा पूज्य पिताजीका नाम पं० देवनारायण पाण्डेय था। संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा आपने अपने पूज्य पिताजी से ही प्राप्त की थी। बाद में आप काशी पधारे और वहाँ पञ्च-परमगुरुओं में प्रमुख 'महामहोपाध्याय गङ्गाधर शास्त्री जी से संस्कृत की उच्चतम शिक्षा पाई। आप काशी से ही साहित्याचार्य की परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण हुए।

इसके पश्चात् आपके पिताजी का देहान्त हो जाने के कारण अपने तीन अनुज और माता आदि के पालन-पोषण का भार आप पर आगया। अतः संस्कृत-शिक्षक के रूप में जीविका आरम्भ की और उसी कार्य को करते हुए एनट्रेंस, एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० परीक्षाएँ ससम्मान उत्तीर्ण कीं।

ऐसी असाधारण योग्यता प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें पटना कालेज में संस्कृताध्यापक का पद मिला। कुछ दिनों के बाद आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए और वहीं वसु मल्लिक-लेक्चरर के रूप में अंग्रेजी में वेदान्त पर भाषणमाला भी प्रस्तुत की। आप पुनः बड़े आग्रह के साथ बिहार के शिक्षा-विभाग द्वारा पटना कालेज में बुलाये गये, जहाँ से, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर, आपको महामना मालवीयजी प्राच्य-विभाग का अध्यक्ष बना कर ले आये। कुछ वर्षों के बाद बिहार सरकार ने पुनः पटना कालेज में सानुरोध बुला लिया, और बिहार की इसी प्रमुख शिक्षण संस्था में संस्कृत-विभागाध्यक्ष पद पर कार्य करते हुए, ३ अप्रैल १६२६ को आप दिवंगत हुए।

श्री शर्माजी की प्रतिभा अद्भुत थी। आपने अपनी बहुपथीन मतिमत्ता के कारण न केवल स्वदेश में अपितु विदेश में भी अप्रतिम ख्याति अर्जित की थी। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में आपने अनेक पाण्डित्य पूर्ण प्रबन्ध लिखे हैं। संस्कृत में काव्य, नाटक, चम्पू, दर्शन, इतिहास, कोश, भाषातत्त्व आदि सभी विषयों के ग्रन्थ आपकी यशोगाथा के प्रसारक हैं। स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने

'सरस्वती' पत्रिका में ठीक ही लिखा था कि—'यस्यास्ये परमार्थदर्शनमयी वाणी ननर्तादि्भुता।' और डा. काशीप्रसाद जायसवाल ने कहा था कि—जब मैं शर्मा जी के साथ घूमता था तो ऐसा अनुभव करता था कि मैं "कपिल, कणाद, शंकराचार्य, कालिदास, हर्ष और जगन्नाथ इन सभी के साथ चल रहा हूँ।"

श्री शर्माजी की रचनाएँ प्रायः छप चुकी हैं स्वतन्त्र भी और संग्रह के रूप में भी। प्रत्येक रचना में एक अपूर्व ओज है, नवीन दृष्टि है, पाण्डित्य का प्रकर्ष है तथा जीवन की नई दिशा है। आज उनके बारे में, उनकी रचनाओं के बारे में, प्रतिभा के सम्बन्ध में अनेक आश्चर्यप्रद किंवदन्तियाँ विद्वानों के मुख से सुनी जाती हैं। उनका आशुकवित्व भी 'मारुति-शतक' आदि काव्यों के कारण प्रख्यात ही है।

उनके द्वारा संस्कृत मासिक पत्र के रूप में प्रकाशित 'मित्रगोष्ठी' के कुछ अंक मैंने वाराणसी में अध्ययन करते समय पढ़े थे। उनकी संस्कृत-निष्ठा ने मुझे दिशा-दान दिया। मैंने भी कुछ वर्ष संस्कृत में '**मालव-मयूरः**' नामक मासिक-पत्र सम्पादित और प्रकाशित किया। इसलिए उनके प्रति मेरी सहज भक्ति बन गई।

प्रस्तुत सङ्कलन और सम्पादन

प्रस्तुत सङ्कलन में कुल ५५ चित्रबन्ध अथवा पद्य हैं। जिन्हें विभिन्नता के आधार पर मैंने पाँच प्रकरणों में बाँट दिया है और उनके नाम भी निम्नलिखित रख दिये हैं—

१. गोमूत्रिका-चित्रबन्ध-विलासः,
२. कमल चित्रबन्ध-विलासः,
३. आभरण-चित्रबन्ध-विलासः,
४. शस्त्रास्त्र-चित्रबन्ध-विलासः,
५. प्रकीर्ण-चित्रबन्ध-विलासः।

अन्त में कुछ चित्रबन्धों के फलक भी प्रकाशित कर दिए हैं जो विद्वानों को आनन्दित करेंगे ही।

उपलब्ध चित्रबन्धों में एक बन्ध सम्भवतः 'कपाटबन्धः' सर्वथा पढ़ा नहीं गया है। अतः उसका चित्र जैसा प्राप्त हुआ है वैसा ही यहाँ दे दिया गया है।

इस प्रकाशन की स्वीकृति देने के लिए मैं प्राचार्यप्रवर डॉ० मण्डनमिश्र जी का पूर्ण आभारी हूँ। वे मेरी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कल्याणी प्रवृत्तियों में सदा सहायक हैं, यह मेरी मान्यता है।

यह प्रकाशन अतित्वरा में हुआ है अतः त्रुटि रह जाना स्वाभाविक ही है। तदर्थ क्षमा करते हुए विद्वद्गण मुझे सूचित करेंगे तो परम कृपा होगी।

अन्त में यह कृति मैं महामहोपाध्याय, साहित्याचार्य, स्व०पण्डितश्रीरामावतार शर्मा जी को समर्पित कर आनन्द का अनुभव करता हूँ। शमिति।

—**डा० रुद्रदेव त्रिपाठी**

चित्रबन्धावतारिका

[वन्दनावृत्ति 'वन्दिता']

॥ ॐ जानकीजानये नमः ॥

महामहोपाध्याय-श्रीरामावतारशर्म-विरचिता

तथा

डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठि-विरचित-

'लक्षणा-लक्षिका' रूप-हिन्दी-'वन्दना-वृत्ति' वन्दिता

चित्र-बन्धावतारिका

—:o:—

प्रथमं प्रकरणम्

[गोमूत्रिका-बन्ध-विलासः]

[१]

अयुग्मतः पाद-गोमूत्रिका-बन्धः

साकेताधीश-पादौ नमत ननु जनाः कोमलाम्भोज-भासौ,
लोके व्याधीनपारा नहिततनुधनाः कामदम्भोलिमारात् ।
संसारापारसिन्धुं तरत किमु वृथा जीवनं यापयध्वे,
नासाद्यापायसिद्धिं तनु (त)ततमदथा च्याविते यादयत्नात् ॥[1]

---

१. यहाँ हमने बड़े अक्षरों में पुस्तक के मूल पद्य क्रमाङ्क तथा अवतरणिकारूप चित्रबन्ध-नाम के साथ दिये हैं और प्रत्येक पद्य के साथ नीचे बन्ध-रचना-विधि एवं लक्षण के रूप में 'वन्दना-वृत्ति मुद्रित की गई है। अतः पाठक-गण इसी दृष्टि से इसका वाचन करें। —सम्पादक

[वन्दना-वृत्ति-मङ्गलम्]

सिन्दूराञ्चितभालः श्रोणिरणित-मञ्जु-किङ्किणीजालः ।
करधृत-कुवलयमालः शं दिशतु गणेश्वरो बालः ॥ १ ॥

रामावतार-रचितां चित्रबन्धावतारिकाम् ।
करोमि रुद्रदेवोऽहं वन्दना-वृत्ति-वन्दिताम् ॥ २ ॥

उपक्रम— महामहोपाध्याय श्रीरामावतार शर्मा जी के उपलब्ध चित्रबन्धों में सर्वप्रथम 'गोमूत्रिका-बन्ध' प्राप्त हैं। वैसे संस्कृत-साहित्य के अलङ्कार-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी यही बन्ध सर्वप्रथम आचार्य दण्डी द्वारा भी चर्चित है। अतः इसी बन्ध को हम भी यहाँ प्राथमिकता दे रहे हैं।

बन्ध रचना-विधि

इस पद्य के चारों चरणों को चार पक्तियों में लिखा जाता है। जिनमें सम-संख्यावाले अक्षर पहली पंक्ति के नीचे मध्य के कोष्ठकों में लिखे जाते हैं जो द्वितीय चरण के समसंख्यक अक्षरों की भी पूर्ति करते हैं। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ चरण के मध्य कोष्ठकों में भी इन चरणों के समसंख्या वाले अक्षर लिखे जाएँगें। गोमूत्रिका-क्रम से रचित दस-दस कोष्ठकों की तीन पंक्तियों में जो मध्य पंक्ति है उसमें दो-दो वर्ण द्वितीय और तृतीय चरण के लिखकर ऊपर-नीचे वाले कोष्ठकों के अक्षर मिलाकर यह पद्य पढ़ा जाता है।

इस बन्ध का लक्षण दामोदर कवि ने अपने ग्रन्थ 'चित्रबन्ध-काव्य' में इस प्रकार दिया है—

उपरिष्टादधो गच्छेदधस्तादुपरि व्रजेत् ।
गोमूत्रिका-क्रमेणैव श्लिष्टा वर्णास्तु मध्यमाः ॥
गोमूत्रिकाक्रमैः पाठ्यान् मध्यवर्णान् पुनः पठेत् ।
पादगोमूत्रिका-बन्धे शैली ज्ञेया विचक्षणैः ॥

ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ववर्ती आचार्यों ने अनुष्टुप् तथा वसन्ततिलका-छन्दों में ही पादगोमूत्रिका-बन्ध की रचनाएँ की हैं। अग्नि पुराण में कथित—**गोमूत्रिका सर्ववृत्तैः**' सूचना के अनुसार ही सम्भवतः श्रीरामावतार शर्मा जी ने स्रग्धरा-छन्द में इस बन्ध की रचना की है। यहाँ भगवान् राम के चरणारविन्दों को प्रणाम करने की अनुशंसा की गई है। जो कि ग्रन्थारम्भ में मङ्गलरूप है।

[२]

अयुग्मार्ध-गोमूत्रिका-बन्धः (प्रथमः)[1]

सा शैलाधीश-बाला पशुपतिदयिता स्कन्द-हेरम्बमाता,
भद्रं मे भूरि दत्तां धनभवनधरापत्यनित्याप्ति-जन्यम् ।
यांशैः स्वाधीन-बाणैः परिपतदहितानन्ददा रम्यमाना,
भग्नां मेनेऽरिमत्तां जनमवति धनैः पक्ष्म-निक्षिप्तधन्यम् ॥

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में सामान्यतः '**अर्धगोमूत्रिका-बन्धः**' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

वर्णानामेकरूपत्वं यत्त्वेकक्षरमर्धयोः ।
गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो विदुः ॥ ३।७८ ॥

इसके अनुसार जिस पद्य के ऊर्ध्वाधःक्रम से लिखे गये वर्णों में एक वर्ण—व्यवहित समानाकारता पाई जाए उसे चित्रकाव्य के विशेषज्ञ विद्वान् 'अर्धगोमूत्रिका' कहते हैं। इस अर्धगोमूत्रिका की विशेष चर्चा करते हुए भोज ने अपने ग्रन्थ में तीन भेद बताये हैं—१. आयुग्मार्धगोमूत्रिका, २. युग्मार्धगोमूत्रिका और ३. अर्ध गो-मूत्रिका-प्रस्तार। इनमें से यह पहला भेद है। इस पद्य के उत्तरार्ध के समसंख्या-वाले अक्षरों में समानता होती है। हमने इसका लक्षण यह लिखा है—

समसंख्या यत्र वर्णाः स्युः पूर्वार्धोत्तरार्धयोः ।
अयुग्मार्धगोमूत्रिका कथ्यते सा तु कोविदैः ॥ (चित्रालङ्कारचन्द्रिका)

प्रस्तुत पद्य 'अनुष्टुप्' छन्द से आगे बढ़ाकर 'स्रग्धरा' छन्द में बनाया गया है, यह रचनाकार की विशेषता है।

प्रासंगिक रूप से इस पद्य में देवी-स्तुति के साथ ही स्कन्द-कार्तिकेय और हेरम्ब-गणपति का नाम स्मरण भी किया गया है।

[३]

अयुग्मार्ध-गोमूत्रिका-बन्धः (द्वितीयः)

श्रीमान् सोमार्धधारोऽवनिधरतनयः शोभमानोऽङ्गभागः,
कामाहङ्कारदारी भवतु मम मुदे भावितात्मा प्रयन्ता ।

---

१. जहाँ एक ही बन्ध के एक से अधिक प्रकार आये हैं। वहाँ प्रथमः, द्वितीय आदि पदों से उनका सूचन किया है।

सम्मान्यो मानधामा वरधनतनया स्वाभया नो(ना)ल्पभाग्यः,
काव्येऽहं सारकारी श्रवति मधुमुचा भाषितानां प्रणेता ॥

यह बन्ध-पद्य भी पूर्वोक्त पद्धति से ही निर्मित है। इसमें भगवान् शिव की स्तुति की गई है।

[४]

अयुग्मार्ध-गोमूत्रिका-बन्धः (तृतीयः)

वेधोऽनन्तादिदेवा नतिततिविधिना प्राप्य यस्यानुकम्पां,
नाकानन्देन युक्ता भजदभिमतदो द्वित्रिमाभान्ति सन्तः ।
बोधोद्भूतार्यदेहो नमितकविमना अप्यहं स्यामकस्माद्,
नाम्नानन्तं नमोक्तावजमभिगतवान् द्विर्णमाशान्तिकान्तः ॥

यह बन्ध-पद्य भी पूर्वोक्त पद्धति से ही रचित है। यहाँ भी भगवान् शिव की महत्ता वर्णित है।

[५]

अयुग्मार्धगोमूत्रिका-बन्धः (चतुर्थः)

शुद्धा पिनाकिदयिता दिशतां सुखानि,
यामाश्रितो जगति वाचि भवेदनूनः ॥
युद्धार्थि-नारदनुता-कृश-वासुकीनि,
क्षेमान्वितो नगरवासि-भयादनूनः ॥

यह पद्य पूर्वोक्त पद्धति से ही बना है। केवल इसमें छन्द बदलकर 'वसन्ततिलका' का आश्रय लिया गया है। इसमें कवि द्वारा भगवती पार्वती से मङ्गलकामना की गई है।

[६]

अयुग्मार्धसमाक्षर-गोमूत्रिका-बन्धः

शिव पाहि सदा दासं तव पाद-समाश्रितम् ।
नव याहि मुदा वास भव वेद रसाद्भुतम् ॥

यह पद्य भी पूर्वोक्त पद्धति पर अनुष्टुप् छन्द में निर्मित है और यहाँ भगवान् शिव से प्रार्थना की गई है।

१-समाक्षर और २-विषमाक्षर की दृष्टि से भी गोमूत्रिका पद्यनिर्माण के दो भेद विद्वानों ने किये हैं। जहाँ अक्षरों की श्लिष्टता में समस्थान पर समानता हो वहाँ **'समाक्षर-मूत्रिका'** होती है। इसी का यह उदाहरण है, क्योंकि यहाँ **'व-हि-दा सं'** आदि अक्षर पूर्वार्ध में समस्थान पर समान हैं।

[७]

भिन्नच्छन्दोगोमूत्रिका-बन्धः (प्रथमः श्लोकः)

कृपा ते विख्याता सदसि शमितन्या यदुपते,
मुदा मद्यातन्द्रां प्रभुवरतनुष्वव्यतिकरम्।
पदाम्भोजध्यानात् तव विगतसंसारशमला-
गतां विद्यां लब्ध्वा भृशममर-सङ्घस्य पतितम्॥

इस बन्ध में प्रथम पद्य अन्य छन्द का होता है और द्वितीय पद्य जो प्रथम पद्य के गोमूत्रिका-क्रम से पढ़ने पर निकलता है, वह अन्य छन्द में होता है। इस प्रकार का बन्ध 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में भोज ने 'नमत चन्द्रकला०' इत्यादि (२।३३१) पद्य से दिया है। इसका लक्षण-पद्य वहीं देकर कहा गया है कि—

गतिरुच्चावचा यत्र मार्गे मूत्रस्य गोरिव।
गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं चित्रवेदिनः॥ २।११५॥

इसके अनुसार चलते हुए वृषभ के मूत्रपात से जिस प्रकार भूमि पर अनेक कोणों से युक्त ऊपर नीचे रेखाएँ बन जाती हैं, उसी प्रकार की रेखाकृति से 'गोमूत्रिका-बन्ध' बनता है। उपर्युक्त बन्ध के लिए हमने यह लक्षण बनाया है—

एकस्माच्छन्दसः पद्याद् भिन्नच्छन्दोमयं पुनः।
पद्यं समानसङ्ख्याकैर्वर्णैर्निःसरति ध्रुवम्॥
वर्णानामेकरूपत्वे पठनाद् जायते शुभः।
भिन्नच्छन्दोमयोऽप्येष बन्धो गोमूत्रिकाभिधः॥ (चि० च०)

भोज की अपेक्षा प्रस्तुत बन्ध की यहां विशेषता यह है कि वहाँ 'द्रुतविलम्बित छन्द' के पद्य से 'स्रग्विणी' छन्द का 'कामदं चण्डमुग्रं', इत्यादि (२।३६२ स. क.) उद्धार हुआ है, जबकि यहाँ 'शिखरिणी' छन्द के पद्य से 'पृथ्वी' छन्द का पद्य निकलता है।

[८]

द्वितीयः समुद्धृत-श्लोको यथा—

नृपाल ! विदितामद प्रशमित-प्रयत्नोपदा,
मुदं मम तनु प्रभो वशिततिष्वथातित्वरम् ।
अदायि जयिना तव स्रगलि सङ्करम्यामया,
गले विमलता भृता मधुरवर्गदा पश्यताम् ।।

पृथ्वी छन्द में निःसृत यह पद्य पूर्व-पद्य **'कृपा ते विख्याता'** से निकला है। यहाँ 'राजा रामचन्द्र के गले में माल्य-समर्पण की भावना व्यक्त करते हुए कल्याण-कामना की गई है।'

[९]

तुल्यः कस्यैष देवः सुररिपुपटली-वारिदध्वान्तवातो,
रामोऽयोध्यावनिस्थो दशवदनगजत्रासदो (दा) नैकसिंहः ।
पित्रादिष्टो वने यो मुनिपरिचरणासादित-प्रीतिभारो,
जाया सौमित्रिमित्रं तनुतरविभवस्फारवर्षाण्यवात्सीत् ।।

यह पद्य स्वतन्त्र रूप से ही लिखित है। इसमें किसी बन्ध की सम्भावना नहीं है। किन्तु गोमूत्रिका-बन्धगत पद्यों के बीच में लिखित होने से इसे यहाँ स्थान देना उचित माना है। सम्भव है कविवर इसका कोई बन्ध बनाने की भावना रखते रहे हों ? और निश्चित रूप नहीं दे पाये हों !

यहाँ भगवान् राम के वनवास के समय का वर्णन है।

द्वितीयं प्रकरणम्

[कमल-बन्ध-विलासः]

[१]

अष्टदल-कमल-बन्धः (प्रथमः)

तारिका केशवनता तानवष्टत्वदेवता ।
तावदेवाज्ञसमता तामस-भ्रम-कारिता ।।

उपक्रम—चित्रबन्धों की परम्परा में गति-चित्रों के बाद कमलाकृति के बन्धों को बहुत अधिक महत्त्व मिला है। इस बन्ध के भेद-विभेद भी अनेक रूपों में अनेक

प्रकार से किये गये हैं। पाठ-पद्धति में भी इसमें कई नवीन प्रक्रियाओं का उन्मीलन हुआ है। यहाँ कमल की आकृतियों में कर्णिका और पत्रों के अक्षरों को पढ़ने के लिये कुछ विधियों का आश्रय लिया गया है तथा यत्र-तत्र नवीन उद्भूतियाँ भी हुई हैं।

यह बन्ध भोज के निम्नलिखित लक्षण के आधार पर निर्मित है—

कर्णिकायां न्यसेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च।
प्रवेश-निर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्ट-दलाम्बुजे ॥ (वहीं)

इसके अनुसार मध्य-कर्णिका में एक अक्षर तथा प्रत्येक पत्र में दो-दो अक्षर लिखे जाते हैं जो कर्णिकाक्षर से आरम्भ होकर द्वितीय पत्र में जाते हैं। जबकि वहाँ से आगे कर्णिकाक्षर का स्पर्श किये विना ही तीसरे पत्र में पहुँचकर फिर कर्णिका का अक्षर पढ़ा जाता है। अतः चारों दिशाओं के पत्रों में कर्णिकाक्षर-समन्वय तथा प्रवेश-निर्गम होता है और विदिशाओं के पत्रों में लिखित अक्षरों का केवल पाठ ही होता है, कर्णिका का समन्वय नहीं।

उपर्युक्त पद्य का पहला अक्षर *'त्य'* कर्णिका में है तथा उसकी प्रतिचरण के आदि और अन्त में आवृत्ति हुई है। शेष प्रतिचरण के मध्यवर्ती ६-६ अक्षर दलों में आलिखित हैं। वैशिष्ट्य यह है कि दिशाओं के पत्रों में लिखे गये दो-दो अक्षर— 'रिका, वन, देव और सम' चरणों के उपान्त्य भाग में विलोम रूप से पढ़ने से 'कारि, नव, वदे और मस' का रूप ले लेते हैं जबकि विदिशा के पत्रों में लिखे हुए दो-दो अक्षरों का केवल पाठ ही होता है।

[२]

अष्टदल-कमल-बन्धः (द्वितीयः)

जय शत्रुं महाराज जरां त्यज नृपालज।
जलजाक्ष स्वमान्याज जन्यारम्भे शिवं यज ॥

यह बन्ध-पद्य भी पूर्वोक्त पद्धति से ही निर्मित है। किन्तु इसमें पहला अक्षर **'जय'** कर्णिका में रहते हुए आठ बार श्लिष्ट हुआ है। इसकी नवीनता यह है कि इसमें १-२, ७-८, ९-१०, १५-१६, १७-१८, २३-२४, २५-२६ और ३१-३२ संख्यावाले वर्ण परस्पर लोम-विलोमरूप से पठित हैं। इस प्रकार यहाँ दो-दो अक्षर लोम-विलोम हैं जबकि पहले पद्य में तीन-तीन अक्षर थे। इसका लक्षण हमने इस प्रकार बनाया है—

एकैक-वर्ण-विन्यासो दिक्पत्रेषु विधीयते।

विदिक्पत्रेषु वर्णाः स्युश्चत्वारः स्थापिताः पुनः ॥
कर्णिकातः पठन् दिक्षु गतागतमथाचरेत् ।
भवेदष्टदलं पद्मं नवीनं चित्रमन्दिरम् ॥ (चि० च०)

इसके अनुसार दिक्पत्रों में एक-एक अक्षर और विदिक्पत्रों में चार-चार अक्षर लिखे जाते हैं, यह इसकी नवीनता है।

यहाँ किसी राजा को उत्साहपूर्वक शिव की उपासना करने के लिये उपदेश और आशीर्वाद दिया है।

[३]

अष्टदल-कमलबन्धः (तृतीयः)

राजिताभूत् पुरा भासा सा भारार्ता त्वया धरा।
राधया सुतरामास समा रासान्विता जिरा॥

यह बन्ध पद्य भी पूर्वोक्त पद्धति से ही निर्मित है किन्तु यहाँ कुछ नवीनता लाने की दृष्टि से इसमें दिक्पत्रगत दो-दो अक्षरों का लोम-विलोम पाठ होता है और विदिक् पत्रों के दो-दो वर्णों के पश्चात् पुनः कर्णिकाक्षर का भी सहयोग लिया जाता है। इसका लक्षण हमारी दृष्टि से इस प्रकार है—

कर्णिकातो व्रजेत् पत्रे, प्रथमे च तृतीयके।
पञ्चमे सप्तमे चैव, प्रविशन् निःसरँस्तथा।
तत्रैव दिक्पत्रगतानाद्यवर्णान् विलोमवत्।
गृहीत्वा पठनादष्टदलं पद्ममिदं भवेत्॥ (चि० च०)

यहाँ 'रा' अक्षर कर्णिका में है तथा—'जिता, भासा, धरा और मास'—अक्षर लोम-विलोम रूप से पठित हैं।

यहाँ भगवान् कृष्ण के अवतार से पूर्व की पृथ्वी की स्थिति और अवतार के पश्चात् रास से युक्त होने की स्थिति का वर्णन हुआ है।

[४]

अष्टदल-कमल-बन्धः (चतुर्थः)

कन्यकान्यकलामालाकरी नारी कदा मुदा।
कति पीतिकरान् शूरान् कण्ठेऽकुण्ठेऽकरोद् गुरोः॥

इस पद्य के प्रत्येक चरण का पहला और पाँचवाँ अक्षर 'क' समान है। यहाँ सभी पत्रों के दो-दो अक्षरों का लोम-विलोम पाठ किया जाता है तथा प्रत्येक पत्राक्षरों के साथ कर्णिकाक्षर भी पढ़ा जाता है। इसका लक्षण भोज ने इस प्रकार दिया है—

प्राक् कर्णिकां पुनः पर्णं, पर्णाग्रं पर्ण-कर्णिके।
प्रतिपर्णं व्रजेद् धीमानिह त्वष्टदलाम्बुजे॥

(२।२८९ स० क०)

इसमें सीताजी के द्वारा रामचन्द्रजी के गले में वरमाला पहिनाने का प्रसङ्ग संकेतित है।

[५]

अष्टदल-कमल-बन्धः (पञ्चमः)

क्षमस्व मन्तुमद्येमं, मम राम दमक्षम।
क्षणे स्वयं तु मुद्येन, मन्ये राजेदधिक्षमम्॥

इस बन्ध की रचना 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के 'चरस्फार' इत्यादि पद्य के अनुकरण में हुई है। इसका लक्षण वहाँ इस प्रकार दिया है—

अष्टधा कर्णिकावर्णः पत्रेष्वष्टौ तथापरे।
तेषां सन्धिषु चाप्यष्टावष्टपत्र-सरोरुहे॥

इसके अनुसार एक आठ पत्र वाले कमल की रचना करके उसके पत्रों की सन्धियों में उतने ही अन्य-पत्र बनाये जाते हैं और प्रमुख दलों में पद्य के १-३-५-७-९-११-१३ और १५ की संख्यावाले अक्षर लिखे जाते हैं। कर्णिका में **'म'** अक्षर रहता है। जबकि सन्धिवाले पत्रों में क्रमशः २-४-६-८-१०-१२-१४ और १६ संख्यावाले अक्षरों को लिखकर दिशा-विदिशा के दलों में लिखित अक्षरों के साथ पढ़ा जाता है।

भोज के लक्षण से यहाँ यह विशेषता है कि वहाँ तो **'डलयो रलयोरभेदः'** इस अभियुक्तोक्ति—चित्रकाव्य के नियम के अनुसार कर्णिकास्थ रकार को ही लकार मानकर बाहरी पत्रों में आठ ल-कार लिखे गये हैं, जबकि यहाँ उन पत्रों में भिन्न-भिन्नाक्षर हैं। अतः इसका लक्षण यह हो सकता है—

दिग्विदिग्गतपत्रेषु कर्णिकाक्षर-संयुतः।
पाठो विधीयते तस्मात् पूर्वार्धः परिपूर्यते॥

सन्धि-पत्रेषु च पुनः पूर्वपत्राक्षरयोगतः ।
पाठादुत्तरभागः स्यादष्ट-पत्रसरोरुहे ॥ (चि० च०)

[६]

अष्टदलकमल-बन्ध: (षष्ठः)

सम्भाव्य स्तन्यभावं विनयसमनविद्यागतस्योन (मा) भासं,
सम्मानस्योरुगानं विजनसनजवि व्याधहरते घनासम् ।
सं नाद्यरते न रक्ष्यादकृशसशकृदस्येकदा स्फारहासं,
संहारस्फायिमन्युं नमतसतमनः श्रीलसंस्तव्यभासम् ॥

यह बन्ध भोज द्वारा प्रदर्शित 'राजशेखर-कमल' अंकनवाले 'रातावद्याधि-राज्या' इत्यादि (२।२९८) पद्य की रचना के अनुकरण में बना है। इसका लक्षण भोज ने—

निविष्टाष्टदलन्यासमिदं पादार्धभित्तिभिः ।
अस्पृष्ट-कर्णिकं कोणैः कविनामाङ्क-मञ्जुलम् ॥ २।२९५ ॥ (स. क.)

यह दिया है। किन्तु उपर्युक्त पद्य में कुछ नवीनता लाई गई है जिससे इसमें कोण-गत अक्षरों के साथ कर्णिकाक्षर का भी पाठ होता है, कोण के कर्णिकास्पृष्ट अक्षर की जो आवृत्ति वहाँ की गई है उसे यहाँ न करके कर्णिका का अक्षर ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार प्रत्येक चरण के छठे और सोलहवें अक्षरों का ग्रहण करके वहाँ नामांकन प्राप्त किया गया है उसी प्रकार यहाँ इस पद्य से भी यदि अङ्कन निकाला जाय तो 'भागगाधर-कमल' ये अक्षर निकलते हैं। इनसे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि यह अंकन 'गंगाधर-कमल-भा' ऐसा हो सकता है किन्तु यह कविनामांक तो नहीं है।[1] इसके लक्षण में तृतीय चरणगत 'अस्पृष्ट' के स्थान पर 'संस्पृष्ट' पाठ करना उचित होगा।

[७]

सनालाष्टदल-कमल बन्धः (सप्तमः)

प्रणयान्न न यात् सेव्यः प्रज्ञया प्रणयानया ।
विनयात् तुष्टिनमन नराधिप नयानया ॥

---

१. इससे यह शङ्का होती है कि क्या श्रीशर्माजी ने अन्य कवि के बन्ध भी लिए थे ? हो सकता है यह बन्ध म० म० गंगाधर शास्त्री का हो, जो कि आपके गुरु थे।

इस बन्ध का यह पद्य कुछ अस्पष्ट ही है। इसका कारण यह है कि यह केवल चित्र के रूप में ही प्राप्त है। पाठ-पद्धति का सूचन न होने से पद्य का मूलरूप क्या होगा यह चिन्त्य ही है। हमने स्वबुद्धि से उपर्युक्त स्वरूप निर्धारित किया है।

इस बन्ध में कमल की नाल कुछ बाहर निकली हुई है और उसमें 'प्रण' ये अक्षर लिखे हैं। कमल के आठ पत्रों में दिशावाले प्रति पत्र में दो-दो अक्षर हैं और विदिशावाले पत्रों में एक-एक। कर्णिका में 'न' अक्षर है। अतः यह एक नवीन ही रूप है।

'पद्यामृत-सरोवर' में 'नमोऽस्तु ते रावणतेजसायुते' इत्यादि दो पद्यों से दो 'सनाल अष्टदल-कमल-बन्ध' दिये हैं। सम्भवतः उन्हीं से इसकी रचना में प्रेरणा मिली हो।

[८]

द्वादश-दल-कमलबन्धः (प्रतिपत्रं द्व्यक्षरमयः)

तं देवं सततं भक्त्या महितं नौम्युमायुतम्।
तंसितां हि शितं मृत्युरहितं चन्द्रभासितम्॥

यह बन्ध कमल के बारह पत्रों में निर्गम और प्रवेश पद्धति से पूर्ण होता है। कर्णिकाक्षर 'तं' आठ बार श्लिष्ट होता है जो कि निर्गम के आदि में और प्रवेश के अन्त में १-६-११-१६-१७-२२-२७ तथा ३२वें अक्षरों के रूप में है। प्रत्येक पत्र में दो-दो अक्षर लिखे जाते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है—

प्रतिपत्रं वर्णयुग्मं कर्णिकाक्षरसंयुतम्।
निर्गमागमपद्धत्या रविपत्राम्बुजे पठेत्॥ (वि० च०)

[९]

षोडश-दल-कमल-बन्धः (प्रथमः)

मह्यमक्षमसामन्तमसीमप्रेम-कोमलम्।
मन्यामहे मनुममुं मतिमन्तमसम्मतम्॥

इस बन्ध में १-३-५-७ जैसी विषम संख्यावाले वर्ण कर्णिकाक्षर के रूप में श्लिष्ट हैं तथा २-४-६-८ जैसी समसंख्यावाले वर्ण सोलह पत्रों में लिखे जाते हैं। भोज ने इसका लक्षण यह दिया है—

गोमूत्रिका-क्रमेण स्युर्वर्णाः सर्वे समाः समाः ।
मध्ये मवर्ण-विन्यासात् पद्मोऽयं षोडशच्छदः ॥ २।२९३ ॥ स० क०

किन्तु यह पत्र से आरम्भ होनेवाले 'नमस्ते महिम' इत्यादि पद्य को लक्ष्य में रखकर बनाया गया है। वहाँ प्रवेश-निर्गम-पद्धति स्वीकृत है। अतएव इसमें नवीनता लाकर यहाँ आद्यवर्ण कर्णिका से आरम्भ किया गया है और इस तरह निर्गम-प्रवेश-पद्धति आदृत हुई है। इसलिये इसका लक्षण 'नारायणानुज' के 'चित्र-बन्ध-काव्य'[1] में दिये गये लक्षण के अनुसार यह होगा—

आद्यमध्ये लघुं न्यस्य ह्येकैकं षोडशच्छदे ।
अभ्यसेन्मध्यमन्त्यैस्तु, कमले षोडशच्छदे ॥

इसके अनुसार यह—**'आद्यवर्णकर्णिक प्रत्यक्षरोत्तर-पत्राक्षर षोडशदल-कमल-बन्ध'** भी कहा जाएगा। यहाँ **'म'** अक्षर श्लिष्ट होकर १६ बार आवृत्त हुआ है।

[१०]

षोडश-दल-कमल-बन्धः (द्वितीयः)

सदा सहास-रासज्ञ समसर्त-सदासदः ।
सरसस्य सदः सत्य-सत्र-सत्त्व-समेसर ॥

यह पद्य भी पूर्वोक्त पद्धति से ही बना हुआ है। यहाँ 'स' अक्षर कर्णिका में रहकर श्लिष्ट होता है।

[११]

षोडश-दल-कमल-बन्धः (तृतीयः)

एकान्धकान्तका भीका रङ्कालङ्कार-कारिका ।
सा कालिकाधिका लोकात्विकालोकान्तिकायिका ॥

यह पद्य सरस्वती-कण्ठाभरण के 'गोमूत्रिका-क्रमेण' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण

---

१. कमला और रङ्गनाथ के पुत्र नारायणानुज का 'चित्रबन्ध-काव्य' अभी अप्रकाशित है। हमने इसको दो पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादित कर प्रकाशनार्थ तैयार किया है। —सम्पादक

के आधार पर निर्मित है। इसमें 'का' अक्षर कर्णिका में रहते हुए श्लिष्ट होता है। पद्य का आरम्भ पत्र से होकर प्रवेश-निर्गम-पद्धति से अन्त तक पहुँचता है।

कमलबन्ध के दो अन्य पद्य

हमें महामहोपाध्यायजी के हस्तलिखित संग्रह में दो और कमल-बन्ध के चित्र प्राप्त हैं किन्तु उनके अक्षरों को मिलाकर पद्यरूप में प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है क्योंकि उन चित्रों की पठन-पद्धति का ज्ञान नहीं हुआ है। बहुत प्रयत्न करने पर भी वे समस्यात्मक ही बने हुए हैं। अतः जैसा हम पढ़ पाये हैं वैसा ही पद्य-पाठ यहाँ दे रहे हैं—

[१२]

षोडशदल-कमल-बन्धौ (अस्पष्टौ चतुर्थ-पञ्चमौ)

(क) मदाम कामो मअरंम तान्तं मयमू म मापाम किसे म दाता ।
म रस म मयद महह महितः मवधमतिरं मयदमयुते ॥

[१३]

(ख) रंगेमरद्युमरतं मरमुंमरं कं, तं रं जनं (ण) रन्दविरं (द) विसरंमुवीद।
रं हे वरंन्तादार वी पर तानू र नीच रशी वीर धीसर ॥

इनमें क्रमशः पहले में 'म' अक्षर और दूसरे में 'र' अक्षर कर्णिका में है तथा चक्राकर परिधि में सोलह दलस्थानों के कोष्ठक हैं जिनमें दो-दो अक्षर लिखे हैं। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक दो अक्षरों के बाद एक कर्णिकाक्षर पद्य में जोड़ा गया है। चित्रकाव्यगत नियमानुसार यहाँ कर्णिकास्थित अक्षरों में अनुस्वार और विसर्ग का संयोग-वियोग भी हो सकता है।[1]

---

१. विद्वानों से निवेदन है कि इन पद्यों का यदि किसी को वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो तो कृपया सूचित करने का कष्ट करें। —सम्पादक

तृतीयं प्रकरणम्

[आभरण-चित्रबन्ध-विलासः]

१. शरीराभरण-चित्रबन्धाः

[१]

कङ्कण-बन्धः (प्रतिमणित्र्यक्षरमयः)

राघवः सुप्रभः पापहृत् सर्वदा,
जायतां धीमतां भूतये श्रीपतिः ।
सर्वदः सद्गुणः सन्ततं सुन्दरः,
सौख्यदः केशवः पालकः सन्नृणाम् ।।

उपक्रम—आभरण से हमारा तात्पर्य शरीर की शोभा के लिए धारण करने योग्य वस्तु से है। इनके यहाँ सुविधानुसार दो विभाग किये गये हैं जिनमें पहला है—

शरीराभरण और दूसरा शोभाभरण।

शरीराभरण के बन्धों में यहाँ कङ्कण तथा हार-मालाओं को स्थान मिला है तथा शोभाभरण में चामर और छत्र-आतपत्र हैं।

कङ्कण और मालारूप बन्धों की रचना में श्रद्धेय शर्मा जी ने अच्छा मनोयोग दिया है तथा कुछ नवीन पाठ एवं आकृति-सम्बन्धी उद्‌भावनाएँ भी की हैं। कङ्कण-बन्ध का विचार इस प्रकार है—

यह बन्ध महिलाओं के हस्ताभरण कङ्कण के अनुरूप है, इसमें वलय के ऊपर सोलह मणियाँ जड़ी हुई हैं और उन प्रत्येक में तीन-तीन अक्षर लिखे जाते हैं। मध्य में कोई वर्ण नहीं रहता है।

इस बन्ध की विशेषता यह है कि हाथ में पहना हुआ कंगन घूमने में अस्थिर रहता है अतः उसकी कौन-सी मणि आरम्भरूप है यह नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार बन्ध में लिखे गये तीन-तीन अक्षरों के किसी भी खण्ड से पद्य पढ़ा जा सकता है। इससे सोलह पद्य बन जाते हैं और उन्हें यदि विलोम-पद्धति से पढ़ा जाए तो अन्य सोलह पद्य और बन जाते हैं। यथा—

सुप्रभः पापहृत् सर्वदा जायतां,
धीमतां भूतये श्रीपतिः सर्वदः।
सद्गुणः सन्ततं सुन्दरः सौख्यदः,
केशवः पालकः सन्नृणां राघवः॥

इसी प्रकार अन्य पद्य भी बनेंगे। 'कामधेनु-बन्ध' भी इसी प्रकार के होते हैं।

यद्यपि बन्धकार ने यहाँ ऐसा कोई सङ्केत नहीं दिया है कि इसके इतने पद्य बनते हैं किन्तु पठन-प्रक्रिया के आधार पर ऐसा आभास होता है।

यहाँ केवल रगण—दीर्घ, ह्रस्व, दीर्घ—ऽ।ऽ—अक्षरों के तीन-तीन खण्डों से बना हुआ स्रग्विणी छन्द प्रयुक्त है और शब्द ऐसे लिये गये हैं जिन्हें कहीं भी रखकर पढ़ने से कोई अन्तर नहीं आता। इसका लक्षण इस प्रकार है—

कङ्कण-मणि-गण-मध्ये स्वेष्टान् वर्णान् कविः सुसंस्थाप्य।
प्रपठेत् ततो यथेच्छं बन्धेऽस्मिन् भूरि पद्यानि॥ (चि० च०)

विशेष—

इस बन्ध-प्रक्रिया में लिखित 'कङ्कण-बन्धरामायण' की रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिससे ६४ और १०८ पद्य-अर्थ निकलते हैं। वैसी रचना विश्व-साहित्य में अपूर्व है। यहाँ बननेवाले पद्यों का अर्थ वही रहेगा। जबकि अन्यत्र गृहीत-मुक्त पद्धति से अर्थात् श्लोकारम्भ के पहले अक्षर को दूसरी आवृत्ति में छोड़कर अन्त में बत्तीसवें अक्षर के साथ जोड़ने से नया पद्य होगा उसी तरह अक्षर छोड़ते हुए तथा पीछे से जोड़ते हुए अक्षरों बने सभी श्लोकों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं और रामायण की कथा का भी निर्वाह होता है।[1]

प्रस्तुत पद्य में रामचन्द्रजी से कल्याण की कामना की गई है।

[२]

हार-बन्धः (नवपुष्पात्मकः प्रथमः)

सदा शम्भो शस्ताशयविनय-कम्रं नरममुं,
त्वमुक्तौ मुख्यत्वं सरसमसमं प्रापय परम्।

---

१. हमने अपने शोध-प्रबन्ध पृ० में इस बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है। अतः विशेष जानने के लिए वहीं देखें। **'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'**, दिल्ली विद्यापीठ-प्रकाशन, पृ० ३३९-३४० संस्करण १९७२ ई०।

स ते दृष्टचा दृष्टादृतिरिव भवन्नेव सततं,
न तं गायंगायं महिमनि मनस्यापय परम् ॥

हार-बन्ध के कई प्रकार प्राप्त होते हैं जिनमें मणि और पुष्पों के भेद से दो प्रकार तथा एक मिश्रप्रकार प्रमुख हैं। प्रस्तुत बन्ध नौ पुष्पों से ग्रथित हार है। इस में सबसे ऊपर एक योजक-ग्रन्थि है जहाँ से पद्य दो पार्श्वों में चार-चार पत्रवाले पुष्पों से अवतरित होता है। मध्य में 'नायक-पुष्प' पाँच पत्र एवं कर्णिका से युक्त है जो द्वितीय और चतुर्थ चरण के अन्तिम पाँच-पाँच अक्षरों के योग से बनता है। इस का लक्षण हमारी दृष्टि से इस प्रकार है—

द्वयोः पार्श्वयोर्मध्यग्रन्थ्या विभक्तं, चतुःपत्र-युक्तेषु पत्रेषु पद्यम् ।
सुमे नायकाख्ये पठन् पञ्चपत्रे, प्रपूर्यात् कविर्हारबन्धे नवीने ।

(चित्रालङ्कार-चन्द्रिकायाम्)

इसमें क्रमशः ऊपर की मध्यग्रन्थि में स्थित 'स' वर्ण की दो बार, प्रत्येक पार्श्ववर्ती पुष्प की कर्णिका में लिखित 'र-मं-र-पू-म-हे-द-ह' इन अक्षरों की तीन-तीन बार तथा नायक-पुष्प की कर्णिका में स्थित 'प' अक्षर की चार बार आवृत्ति होती है। इस पाठप्रक्रिया का क्रम 'गोमूत्रिका' के अनुसार है।

इस पद्य में कवि ने भगवान् शिव की स्तुति करते हुए अपने मन में भक्ति बनी रहे ऐसी भावना की है।

[३]

हार-बन्धः (सकर्णिकचतुष्पत्रात्मकैकादशपुष्पमयो ग्रन्थियुक्तश्च द्वितीयः)

देवीरम्यारसीरप्रकृति गतिमति-प्रौढिभव्याभवाभ-
त्रान्यं (णं) दत्तां दयोदध्यनुपमपशुप-प्रेम हर्म्याहनीह ।
त्वं हर्म्याहः संहति सा तव पवत (तपत) इयं जन्मिजप्या जयौघं,
धन्या धर्माधरित्रीं दिशि दिशि दिशतां शत्रुशस्त्रांशवादे ॥

इस बन्ध की योजना में सकर्णिक दस पुष्प चार-चार पंखुड़ियों वाले तथा एक पुष्प मध्यनायक सकर्णिक छह पंखुड़ियों वाला इस प्रकार ग्यारह पुष्पों का ग्रथन हुआ है। साथ ही ऊपर के बन्धनस्थल पर एक ग्रन्थिमणि है जिसमें निहित अक्षर श्लिष्ट होकर प्रथम चरण का आदि और अन्तिम चरण का अन्तिम अक्षर होता है। इसका लक्षण इस प्रकार विनिर्मित है—

पूर्वं ग्रन्थिस्ततः पुष्पाण्युभयोः पार्श्वयोर्दश ।
चतुष्पत्राणि मध्ये च षट्पत्रं सुमनो भवेत् ॥

कर्णिकाश्लिष्टवर्णैश्च पठित्वा पद्यपूरणम् ।
ग्रन्थितो ग्रन्थिभागान्तं हारबन्धे भवेन्नवे ॥ (चि० च०)

इसके अनुसार यहाँ क्रमशः—'र-भ--द-प-ह्-त-ज-ध-दि-श'—ये अक्षर कर्णिकाओं में स्थित होकर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं। मध्यनायक पुष्प की कर्णिका में स्थापित 'ह्' अक्षर छह बार आवृत्त है और इसी पुष्प के ऊपरवाले एक दल में निहित 'र्म्या' अक्षर की भी आवृत्ति हुई है तथा ग्रन्थि में स्थित 'दे' अक्षर पद्य के आरम्भ और अन्त में आवृत्त है।

यहाँ भगवती की स्तुति करके लोकमङ्गल की कामना की गई है।

[४]

हार-बन्धः (सकर्णिकचतुष्पत्रात्मकैकादशपुष्पमयो ग्रन्थियुक्तश्च तृतीयः)

रामारम्भे रमारक्षण-सरसवसस्वस्थमक्षामधाम—
न्नन्तः शुद्धिं शुभांशुप्रचयमयरयध्वंसदद्यादयाद ।
दक्षादभ्रं दवाभं यमयतु यशसा सत्त्वसम्भासते सा,
वन्द्यावन्यां वरिष्ठामलमतिमततिः कल्पकर्मैकसारा ॥

इस बन्ध की योजना भी पूर्वपद्य 'देवीरम्यारसीर' इत्यादि की प्रक्रिया के अनुसार ही की गई है। यहाँ देवी की स्तुति अभिप्रेत है।

[५]

हार-बन्धः (समणिकसकर्णिकषट्पत्रमयाष्टस्वर्णपुष्पात्मकश्चतुर्थः)

रामः श्रीप्राणनाथो मसृणतरवचा भक्तसारल्यभव्यो,
रक्षोऽधीशप्रवीर-प्रशमनरसिको जानकीरम्यजानिः ।
निर्यद्बाणौघनष्टायति-घनपटलो देवताकूटभाव—
स्तव्यस्त्वं पातु भक्ताव्यवतु तव सुतं धीरसावस्य धीराः ॥

चार पंखुड़ीवाले सकर्णिक पुष्पों के द्वारा बनी हुई मालावाले बन्ध पूर्वाचार्यों ने बहुत से बनाये हैं और उनमें भ्रमण-पद्धति का प्रयोग ही विशेष रूप से हुआ है। उसी से प्रेरणा प्राप्त करके प्रस्तुत पद्य में छह पंखुड़ियों वाले सकर्णिक आठ पुष्पों से इसकी रचना की गई है। इसमें मध्यपार्श्व के पुष्पों के निकट दो-दो मणियाँ और अन्य प्रतिपुष्प के पश्चात् एक-एक मणि का संयोग भी इसकी नवीनता का द्योतक है। इसका लक्षण हम इस प्रकार करते हैं—

पुष्पैः षट्पत्रभाग्भिः स्यादिष्ट-संख्यैः सकर्णिकैः ।
प्रतिसन्धिस्थलं तत्र मणयोऽपि निवेशिताः ॥
मध्यपार्श्वस्थसुमयोरन्तिके च मणिद्वयम् ।
पठन् भ्रमण-पद्धत्या हारबन्धं प्रपूरयेत् ॥ (चि० च०)

इस दृष्टि से यहाँ क्रमशः—**म-ण-र-भ-र-श-र-जा-र-घ-र-ट-व-व्य-तु-व-धी** अक्षर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं तथा आदि का अक्षर ही अन्त में श्लिष्ट हुआ है। इसी प्रकार मध्यमणि का अक्षर भी श्लिष्ट है।

इस पद्य द्वारा श्रीरामचन्द्रजी की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने उनकी कृपा-प्राप्ति की प्रार्थना की है।

[६]

हार-बन्धः (समणिकसकर्णिक-षट्पत्रमयाष्टस्वर्णपुष्पात्मकः पञ्चमः)

धीरः सीतासमेतो रविसदृशमहाः सेन्दिरः शर्वसेव्यः,
पङ्क्त्यास्योदग्रतापप्रद-विपुलशरो मञ्जुमालस्त्वमस्याः ।
स्याः सर्वेशानदृष्टेः सदन सुयशसां गोचरो मे शये च,
न्यस्तं मन्येऽपवर्गं स्तव परममना वामकाम प्रबाधी ॥

यह बन्ध भी पूर्वोक्त पद्धति से ही निर्मित है। इस पद्य में भी रामचन्द्रजी की महिमा का वर्णन है।

[७]

हार-बन्धः (शृङ्खलामयः स्वर्णसूत्ररूपः षष्ठः)

रमामान्यो नानाविध-धनुरुरुक्षोभ-भयदं,
दशास्यस्य क्षिप्र-प्रसृततर-पापावृत-तनुम् ।
विविच्यान्योन्योच्चैररसममदं स्वस्वनततं,
मुदादासीद्योद्यो सददधिप-पक्ष्यः ससहजः

शृंखलाओं के परस्पर-संयोजन से निर्मित सुवर्णसूत्र-रूप[1] इस हार-बन्ध में प्रत्येक अक्षर के पश्चात् दो-दो अक्षरों का साम्य है। ये ही अक्षर शृङ्खला के योजन-

---

१. ऐसे ही अन्य अनेक प्रकार के हार-बन्धों के लिये देखिये—'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'—पृ० ३४१ से ३५८।

स्थल पर एक-एक बार लिखे जाते हैं और श्लिष्टरूप में आवृत्त होकर पढ़े जाते हैं। इसका लक्षण हमने यह बनाया है—

स्वर्णसूत्र-विनिर्मितेऽस्मिन् शृंखलामय-हारबन्धे।
सन्धिमध्यगताक्षराणां श्लिष्टता सुसमीहितास्ति ॥ (चि० च०)

इसके अनुसार यहाँ 'मा-ना-ध-रु' आदि अक्षर श्लिष्ट हैं। इस पद्य में रामचन्द्र जी की महिमा वर्णित है।

[८]

हार-बन्धः (सप्तमः)

देवं धीराय धीरा पशुपति-मतिमन्नारद क्षेममक्षे,
यत्रासन्ने प्रसन्ने भवति रति-तिरस्कारवान्नाथनाथ।
कीनाशस्त्रस्तशस्त्रः शिशुमपि किमपि स्प्रष्टुमेतत्समेत,
नालं तस्यादितः स्यामहमनघमनस्त्वाय दासः सदा सः॥

इस पद्य में पूर्वोक्त पद्धति से ही कुछ नवीनता लाते हुए कुछ पुष्प तीन पत्रवाले हैं तो कुछ मणियां योजक रूप में दी गई हैं। एक निश्चित पद्धति यहां पूर्ण नहीं हो पायी है क्योंकि चारों चरणों में ३-४ और ६-७ तथा १०-११ और १३ १४ संख्यावाले धीरा धीरा, पतितिम आदि तो लोम-विलोम रूप से समान प्रयुक्त हैं किन्तु १७-१८ और १९ संख्यावाले अक्षरों में विभिन्नता है एकरूपता नहीं।

पाण्डुलिपि में भी एक अपूर्ण भित्तिचित्र बनाकर उसमें इस पद्य के कुछ अक्षर लिखें हैं। अतः यह अस्पष्ट ही है।

२. शोभाभरणा-चित्रबन्धाः

[९]

चामर-बन्धः

त्वमद्य मदमत्तानां हरे ! हर्ताऽऽहवेऽव्यय।
जयदायक यत्ताप स्वयमापस्य (त्य) यज्ञिय॥

इस बन्ध में दो वस्तुएँ प्रमुख होती हैं १- दण्ड और २- रोम। इन दोनों के संयोजन से चामर की सृष्टि होती है। 'पद्यामृत-सरोवर' में इस बन्ध का लक्षण-निर्देश करते हुए कहा गया है कि—

योजनीयास्तथा वर्णा दण्डरोमादि-सङ्गमे ।
रोमस्थवर्णपादादौ पठनीयं यथा भवेत् ॥
दण्डरोमस्थवर्णानां रोम्णां सङ्ख्या न विद्यते ।
प्रोक्तश्चामरबन्धोऽयं क्वचिद् रोम्ण्यधिकाक्षरः ॥ (३३वां तरङ्ग)

इस दृष्टि से कुछ चित्रकवि दण्ड से पद्यारम्भ करते हैं और कुछ रोम से।[1] रोम के गुच्छों का कोई प्रतिबन्ध नहीं है तथा दण्ड के मूठ वाले भाग में और मध्य-भाग में पुष्प-पद्धति के अनुसार एक अक्षर को श्लिष्ट बनाकर वर्णों का गुम्फन भी किया जाता है।

यहां पद्य का आरम्भ दण्ड के मुष्टिग्रहणवाले भाग से हुआ है। और प्रथम चरण का दूसरा अक्षर 'म' श्लिष्ट होकर तीन बार आवृत्त है तथा मध्य में दो अक्षर छोड़कर पुनः उसी पद्धति से 'ह' वर्ण तीन बार आवृत्त है। तदनन्तर रोम गुच्छकों में आठ अक्षर लिखे गये हैं जो तृतीय और चतुर्थ चरण के क्रमशः १-३-५-७-९-११-१३ और १५ संख्यावाले हैं जबकि शेष अन्य २-४-६-७-१०-१२-१४ और १६ संख्या-वाले अक्षरों की पूर्ति रोम-दण्ड-सन्धिस्थ अक्षर 'य' की आठ बार आवृत्ति से हुई है। अतः इसका लक्षण हमने यह बनाया है —

दण्डाग्रात् पद्यमारम्भ्य श्लिष्टवर्णसमन्वितम् ।
चरणद्वयमापूर्य वर्णानष्टौ लिखेत् पुनः ॥
रोमस्वथ समो वर्णः सन्धौ श्लिष्टस्तथा भवेत् ।
दण्ड-रोम-सुसंगेन बन्धश्चामरसंज्ञकः ॥ (वि० च०)

इस पद्य के द्वारा कवि ने भगवान् विष्णु की स्तुति की है।

[१०]

छत्र-बन्धः (प्रथमः)

दासता तव देया मे मेया देव तता सदा ।
दातुं सद्गतिमेतां मे शम्भो ! मानितनिर्जरैः ॥

एक दण्ड पर मेरु-पर्वत के समान उसके दोनों ओर के कुछ कोष्ठकों से यह बन्ध बनाया जाता है। इसमें कोष्ठकों की तीन अथवा पाँच पंक्तियाँ ऊपर की ओर जाती

---

१. कृष्ण कवि ने अपने ग्रन्थ 'मन्दार-मरन्दचम्पू' में यही बन्ध रोम-भाग से आरम्भ **किया है।** इसी प्रकार दण्डाक्षर-विहीन 'चामर-बन्ध' भी बने हैं।

हुई क्रमशः छोटी होती जाती हैं। तदनुसार यहाँ बीचवाले छत्रदण्ड के आठ कोष्ठकों में पहले चरण के आठ अक्षर लिखे जाते हैं, और वे ही अक्षर नीचे दण्डाग्र से विलोम पढ़ने पर दूसरा चरण पूरा होता है। तदनन्तर शिखर भाग से सीधे और उलटे रूप में पढ़ने से शेष दो चरण पूरे होते हैं जिनमें प्रथम चरण के आदिम चार वर्ण श्लिष्ट होते हैं। इसका लक्षण हमारी दृष्टि से इस प्रकार है —

दण्डे वर्णाष्टकं लेख्यं तच्च लोमविलोमतः।
पठित्वा शिखरान्मध्यभागच्छेच्छत्रबन्धके ॥
श्लिष्टा भवन्ति चत्वारो वर्णाः प्रथमपादगाः।
त्रिषु पंक्तिषु मध्यस्था इति नावीन्यसङ्गतिः ॥ (चि० च०)

यहाँ कवि ने शिवजी से सद्गति प्राप्ति की प्रार्थना की है।

[११]

छत्र-बन्धः (द्वितीयः)

तव भक्त्या देवदेव तदनन्तं हि शम्भव।
सदाशिव दयाधार सन्मतिं देहि शङ्कर ॥

इस पद्य के प्रथम और द्वितीय चरण को छत्र-दण्ड के दो विभागों में लिखा जाता है। दोनों चरणों के प्रथम तथा अष्टम वर्ण श्लिष्ट हैं और इन्हीं चरणों के द्वितीय एवं पञ्चम अक्षर भी तृतीय और चौथे चरण में क्रमशः ४-५ संख्यावाले वर्णों के रूप में श्लिष्ट बनते हैं तथा इन्हीं चरणों के प्रथम और अष्टम अक्षर भी श्लिष्ट होते हैं। इसमें वस्त्रस्थानीय अर्धगोलाकार तथा दण्ड में सारा पद्य निर्दिष्ट है। इसका लक्षण हमारी दृष्टि से यह होगा —

दण्डसानोः समारभ्य द्विधा भक्तं पदद्वयम्।
पठित्वा धनुषाकारे वस्त्रे पद्यं प्रपूरयेत् ॥
केचिद् वर्णास्तत्र श्लिष्टाश्चरणेषु परस्परम्।
यत्र स्युः स हि विद्वद्भिश्छत्रबन्ध उदाहृतः ॥ (चि० च०)

इसमें कविद्वारा शिवस्तुति की गई है।

[१२]

आतपत्र-बन्धः (तृतीयः)

शिव वलयित-तक्षकादिकाहे,
वसनित-दिक्क सदा दयार्द्रदृष्टे ! ।

जगति वितत-तथ्य-कीर्तिराशे !,
शिव तव दत्तमिदं सितातपत्रम् ॥

यह बन्ध पूर्वोक्त पद्धति से कुछ विशिष्ट है, अतः यहां वस्त्रस्थानीय तीन पंक्तियों के स्थान पर पांच पंक्तियों में अक्षर लिखे जाते हैं। इसका कारण छन्द का परिवर्तन है। साथ ही यहां पद्य का आरम्भ दण्ड के शिखर भाग से पंक्तिक्रम से अवरोह-प्रक्रिया द्वारा होता है। चौथा चरण दण्ड में शिखर से नीचे तक तेरह कोष्ठकों में अङ्कित है। चौथे चरण के १ से ६ तक के अक्षर श्लिष्ट हैं। अन्त में बन्ध का नाम भी दिया है और यह बन्ध भगवान् शिव को अर्पित किया गया है।

इस बन्ध का लक्षण हमने इस प्रकार दिया है—

दण्डसानोः समादाय प्रतिपङ्क्ति भ्रमन् पठेत् ।
अवरोहक्रमेणाथ क्रमात् पादत्रयावधि ॥
चतुर्थं चरणं दण्डे शिखरान्मूलकावधि ।
पठित्वैवातपत्राख्यं बन्धं पूरयते बुधः ॥ (चि० च०)

[१३]

आतपत्र-बन्धः (चतुर्थः)

प्रालेयाचलतनयापतिः स पाया-
दानम्रान् जगति चिरं भ [यापहारी] ।
[शं दद्यादथ च सदैव वर्यपथ्यं]
प्रारम्भस्तव पदसंनतेरसौ मे ॥

यह बन्ध पूर्वापेक्षा और भी नवीन पद्धति से निर्मित है। इसमें पद्यारम्भ शिखर से होकर वामावर्त से तीन बार आवर्तित होने से तीन चरण पूर्ण होते हैं। तथा चौथा चरण दण्ड के ऊर्ध्व भाग से नीचे तक तेरह कोष्ठकों में विभक्त है, जिसके आरम्भ के आठ अक्षर श्लिष्ट हैं। इसका लक्षण हमने यह किया है—

आरभ्य शिखरात् पद्यं वामावर्तेन भ्रामयेत् ।
त्रिधा भ्रान्त्वा ततो दण्डे चतुर्थं चरणं पठेत् ॥
आद्या वर्णा दण्डगताश्चतुर्थचरणस्थिताः ।
अष्टौ श्लिष्टाः सम्भवन्ति बन्धेऽस्मिन्नातपत्रके ॥ (चि० च०)

उपर्युक्त पद्य में जो पाठ अपूर्ण था उसे हमने कोष्ठक में पूर्ण कर दिया है।

चतुर्थं प्रकरणम्

[शस्त्रास्त्र-चित्रबन्ध-विलासः]

[१]

खड्ग-बन्धः

देवस्तवस्तव भवस्य वचोभिरेभि—
राश्चर्य-जन्म-नरभिन्ति न तेन मेने ।
तेनेऽद्य यावदपि नाल्पतमापि पूजा,
जायेत पूर्ण-करुणामय तत्कथं ते ॥

उपक्रम— भारतीय जन-जीवन में आस्तिकता पूर्णरूप से ओतप्रोत रही है और संस्कृतज्ञ तो उसका ही अंश है। अतः देव-गणों की उपासना के साथ ही उनके आयुधों को भी वह आराध्य मानता आया है। शस्त्रास्त्र इसी लिये सर्वत्र आदर को प्राप्त हुए हैं। चित्रकवि भी अपनी रचनाओं में इन्हें स्थान देता आया है। इसी दृष्टि से महामहोपाध्यायजी ने जिन शस्त्र और अस्त्रों के चित्रबन्ध बनाये हैं उन्हें यहां इस प्रकरण में दिया है।

खड्ग की आकृति में यह बन्ध बनाने का उपक्रम सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है। उन्होंने दो अनुष्टुप् पद्यों में इसका निर्माण किया है जिसमें—मस्तक, कूलक, गण्डिका, द्राढिका, फल और शिखा—ये स्थान निर्धारित हैं। ऐसे ही प्राचीन बन्ध से प्रेरणा प्राप्त करके यह बन्ध एक ही पद्य से पूर्ण किया है। इसका आरम्भ मूठ के ऊपर के हिस्से से होता है। सकर्णिक-चतुर्दल पुष्प के समान दो कूलकों में होकर यही पद्य नीचे फल के ऊपर गण्डिका में (अष्टदल कमल-बन्ध के समान) पढ़कर फल के दोनों भागों में पढ़ा जाता है। नीचे पुनः गण्डिका और द्राढिका बनाकर अक्षरों का न्यास किया जाता है। मध्याक्षर श्लिष्ट हैं। फल और शिखा में सर्वप्रचलित पद्धति ही आद्दत है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

उपरिष्टादधोऽधस्ताद् मध्ये मध्ये गतागतैः ।
निहितान्यक्षराण्यत्र पठेत् खड्गे सुधीगणः ॥ (चि० च०)

इसमें 'व-भि-न-ते-जा' ये अक्षर श्लिष्ट हैं। भगवान् शिव की स्तुति इसमें वर्णित है।

[२]

त्रिशूल-बन्धः

फाली शूलीडय ! लीलाद्य पातु पापातुरान् नरान् ।
भासा पाता सितापासा भासिता पातुरान्नरान् ॥

भगवान् शिव और देवी के आयुध के रूप में प्रसिद्ध त्रिशूल के आधार पर बनाए हुए अनेक बन्ध प्राप्त होते हैं जिनमें पाठ-पद्धति और वर्ण-विन्यास पद्धतिगत विविधता प्रदर्शित है। इस बन्ध की भी प्रथम उद्‌भावना रुद्रट ने की है। प्रस्तुत पद्य त्रिशूल के दण्ड में मुष्टिस्थान पर प्रथम चरण का द्वितीय अक्षर श्लिष्ट रहकर अधोभाग और दोनों पार्श्वमें लिखे एक-एक अक्षर के साथ तीन बार आवृत्त किया है। दण्ड में तीन अक्षर तथा दण्डसन्धि में एक अक्षर श्लिष्ट रखा है। दोनों पार्श्व के शूलों में चार-चार अक्षर हैं जो मध्य शूल के एक अक्षर तथा दण्डसन्धि के साथ सम्बद्ध होकर पूर्ण हुआ है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

मुष्टिभागात् समारभ्य शीर्षभागावधि व्रजेत् ।
पार्श्वशूलाक्षरश्लेषात् त्रिशूलं प्रपठेद् बुधः ॥ (चि० च०)

इसके अनुसार यहाँ मुष्टि-सन्ध्यक्षर **'ली'** तथा द्वितीय दण्डसन्ध्यक्षर **'तु'** श्लिष्ट हैं और अन्त्याक्षरों की क्रमहीनाक्षरावृत्ति है।

[३]

परशु-बन्धः

त्वं कालि ! शीलिता मौलि-मालिका राजिते मया ।
वितर त्वरया रम्यां रसारब्ध-रयां रमाम् ॥

इस बन्ध का प्रथम उदाहरण अजितसेन ने 'अलङ्कार-चिन्तामणि' में दिया है। उसका लक्षण भी वहीं यह दिया है—

एकसन्धौ तु षड्वारमेकमेकं द्विरानयेत् ।
भृंगं शिरसि च ग्रीवां, त्रियुक्तां परशौ पठेत् ॥ २।१७४ ॥

किन्तु इस पद्धति से कुछ नवीन-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर प्रस्तुत बन्ध बनाया गया है। इसमें दण्ड के शिखर भाग से पद्यारम्भ होता है और सन्धि, फलाग्र का मध्य तथा दण्ड के मूल में श्लिष्टाक्षरों की योजना की गई है। यहाँ फल का आकार चतुरस्र है जबकि अन्यत्र अर्धचन्द्राकार होता है। फल के मध्य में **'लि'** अक्षर है वह चार बार आवृत्त होता है। दण्डमूल में अष्टदल-कमल के समान मुष्टि-

में कर्णिकागत 'र' सात बार आवृत्त है। और ऊपर सन्धिस्थल में 'का' वर्ण दो बार प्रयुक्त हुआ है जो श्लिष्ट है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

दण्डाग्रात् मूलमध्यस्थ-वर्णश्लेषात् फले पठन् ।
पुनर्दण्डाग्रतो नीचैर्गत्वा पद्यं प्रपूरयेत् ॥
अधोमुष्टौ भवेन्मध्ये श्लिष्टो वर्णः स सप्तधा ।
दलैः सह नवीनेऽत्र पठेत् परशु-बन्धके ॥ (वहीं)

प्रस्तुत पद्य से कवि ने कालिका की स्तुति की है।

[४]

चन्द्र-बन्धश्चतुरर-चक्रबन्धो वा (प्रथमः)

नरराजं नमद्भक्तं न (मन्तु) विनयादिह ।
राधाभक्तं यतो भावि शुभं मे हन्त्वसीरुजम् ॥

यह बन्ध चार अरवाले चक्र के आकार का है। दामोदर कवि ने इसका नाम 'चन्द्रबन्ध' दिया है तथा इसका लक्षण इस प्रकार है—

मध्यतः परितो गच्छेन्नेमावपि ततः परम् ।
इति शैलीं विजानन्तु बन्धेऽत्र चन्द्रसंज्ञके ॥

इसके अनुसार पहले कर्णिकास्थित **'न'** अक्षर से चारों दिशाओं की नेमियों का पाठ होता है तथ इससे आधा पद्य पूर्ण होता है। तदनन्तर चारों दिशा नेमियों के अन्त में चक्रस्थाक्षरों को ग्रहण करते हुए शेष आधा पद्य पढ़ा जाता है। यहाँ ४-८-१२ और १६वें अक्षर **'ज-क्तं-वि-ह'** श्लिष्ट हैं।

मूल पाण्डुलिपि में दो स्थानों पर अक्षर नहीं थे जिन्हें हमने कोष्ठक में देकर पूर्ण किया है। यहाँ कृष्ण की स्तुति की गई है।

[५]

चन्द्र-बन्धश्चतुरर-चक्रबन्धो वा (द्वितीयः)

रमाधव रमावास रक्ष सुन्दरमापते ।
अस्तकंस माममन्द धाम धावतु हा हिते ॥

यह बन्ध भी पूर्वोक्त पद्धति से ही बनाया हुआ है। इसका केवल चित्र ही मिला है और उसमें एक ओर दो अक्षर भी नहीं लिखे गये हैं। अतः इसके पदों में क्रमविपर्यय भी हो सकता है। यहाँ विष्णु की स्तुति की गई है।

[६]

द्विचतुष्कचक्र-बन्धः (प्रथमः)

भव देहि मुदं मह्यं पार्वतीवर शङ्कर।
भस्मदेह मुने मर्त्य पा(प)तीक्ष्ण रणाकर ॥

यह बन्ध तीन चक्रों से बने चक्र से बनता है। इसमें चारों दिशाओं में चार नेमियाँ हैं। कर्णिका स्थान शून्य है। पढ़ने की प्रक्रिया में पहले मध्यचक्र की पूर्व-दिशागत नेमि से वामावर्तक्रम से तृतीय अन्तश्चक्र के साथ आधा पद्य पढ़ा जाता है। तदनन्तर मध्यचक्र और ऊर्ध्वचक्र के अक्षरों का सम्मिलित पाठ होता है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में भोज ने इसका लक्षण यह दिया है—

इह शिखरसन्धिमालां बिभृयादर्ध-समाश्रितैर्वर्णैः।
द्विचतुष्क-चक्रबन्धे नेमिविधौ चापरं भ्रमयेत् ॥ २।३१२ ॥

इसके अनुसार यहाँ १-३-५-७-९-११-१३ और १५ संख्यावाले **'भ-दे-मु-म-पा-ती-र-क'** ये आठ अक्षर श्लिष्ट हैं। पद्य में शिव की स्तुति की गई है।

[७]

द्विचतुष्क-चक्रबन्धः (द्वितीयः)

राम रक्ष तदा दासं, देव मां कुरुथा कर।
रामारस्य तमादाम, देहमास्य रुचा कलिम् ॥

यह बन्ध भी पूर्वोक्त पद्धति से ही निर्मित है। यहाँ रामचन्द्रजी की स्तुति करते हुए उक्त बन्ध की रचना की है।

[८]

विविडित (पञ्चशृङ्ग) चक्रबन्धः

भारती प्रमदं हन्त रक्षती मञ्जुदन्त भा।
भाव दक्षं जनप्रष्ठं सञ्जुप्रोप हर प्रभा ॥

इस चक्र के बारे में भगवती की स्तुति के प्रसङ्ग में वर्णन आता है। यथा—

कर्पूरकुन्दगौरीं तनुमतनुं कार्मुकभ्रू काम्।
वरदानसुन्दरकरां विविडितचक्रस्थितां वन्दे ॥ —देवताख्यान

इस आशय की स्तुति की गई है। इससे यह स्पष्ट है कि यह चक्र भगवती का आसन है। इसमें एक चक्र के अन्तर्गत षट्कोण बना रहता है।[1] प्रत्येक कोण

---

१. कुछ आचार्यों ने चक्र के मध्य में पञ्चकोण भी बनाया है, इसीलिये इसे 'पञ्चशृङ्गचक्रबन्ध' भी कहते हैं।

की सन्धि में अक्षर रहते हैं और एक अक्षर अधःकोण में भी रहता उन्हीं कोणों के सामनेवाले अक्षर श्लिष्ट होते हैं जो अन्य चक्रगत अक्षरों के साथ पढ़े जाते हैं। इसका लक्षण भोज ने इस प्रकार दिया है—

शिखरादन्यतमाद्व प्रतिपर्व भ्रमति रेखयाद्यर्धम् ।
नेमौ तदितरमर्धं विविडितचक्राभिधे बन्धे ॥ (स० क०)

यहाँ इसी लक्षण के अनुसार पद्य का पाठ होता है। इसमें भारती का महत्त्व बतलाया गया है।

[९]

द्विशृङ्गाटक (षट्कोण-चक्र) बन्धः

रमारम्य गुणाधार रक्ष त्वमरमुद्धर ।
रयाङ्ग गुरु ते धाम परम सत्त्वसागर ॥

यह पद्य निम्नलिखित 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में दिये गये लक्षण के आधार पर निर्मित है—

शृंगाद् ग्रन्थि पुनः शृंगं ग्रन्थि शृंगं व्रजेदिति ।
द्विशृङ्गाटक-बन्धेऽस्मिन् नेमिः शेषाक्षरैर्भवेत् ॥ ३१४ ॥

इस बन्ध की रचना में वस्तुतः एक चक्र होता है जो कि परिधिरूप होने से एक द्वितीय लघुचक्र से युक्त रहता है। लघुचक्र के बीच में एक षट्कोण बनाया जाता है और प्रत्येक कोण के बाहर मध्यवर्ती भाग में एक-एक वर्ण लिखा जाता है। तदनन्तर लघु और दीर्घ चक्रों के बीच परिधि में कोणाग्र भाग पर एक-एक वर्ण तथा कोणों की मध्य दिशाओं में दो-दो वर्ण लिखे जाते हैं। इस बन्ध के पठन में ५, ७, ६, ११, १३, १६ संख्यक वर्णों की दो बार तथा पहले और तीसरे वर्ण की तीन-तीन बार आवृत्ति होती है। प्रस्तुत पद्य में भगवान् विष्णु की स्तुति की गई है।

[१०]

अष्टार-चक्रबन्धः

ताराबाधामिमां भीमां मम सा मधुराधना ।
नुद्याद् विद्याप्रदा वेदाहता धूतानृताश्रिता ॥

आठ आरेवाले चक्रबन्धों के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं। इस बन्ध के प्रथम उद्भावक रुद्रट ने स्वयं अन्य आठ चित्रबन्धों वाले पद्यों से इस बन्ध की रचना

की थी। कुछ आचार्यों ने कर्णिका में अक्षर रखकर कमल-बन्ध के समान भी पद्यों की रचना की है और उसके ऊपर एक चक्र बनाकर उसमें आठ स्थानों पर अक्षरों का श्लेष करते हुए पद्य पूर्ण किये हैं।

यह बन्ध श्री शर्माजी का स्वोपज्ञ है। इसमें दो चक्र हैं। प्रथम् अन्तश्चक्र में आठ अर हैं और बाहर के चक्र में प्रत्येक आरे के दो भाग किये गये हैं जिनसे वहाँ सोलह स्थान बन गये हैं। इसकी पठन-पद्धति गोमूत्रिका क्रम से है जिसमें बाहरी चक्र के दो-दो अक्षरों के बाद अन्तश्चक्र का एक-एक अक्षर पढ़ा जाता है। पद्य का आरम्भ अन्दर से बाहर की ओर होता है। इसका लक्षण हमारी दृष्टि से इस प्रकार बनाया गया है —

अन्तश्चक्रे त्वष्टभागा बाह्यचक्रे च षोडश।
गोमूत्रिकाक्रमाभ्यासादष्टारं चक्रमुद्भवेत् ॥ (चि० च०)

यहाँ कर्णिकास्थान में कोई अक्षर नहीं होता है। अन्तश्चक्र आठ अक्षर श्लिष्ट होकर दो-दो बार प्रयुक्त होते हैं। इस पद्य से तारादेवी की स्तुति की गई है।

[११]

शक्तिबन्धो वज्रबन्धो वा (अपूर्णः)

वन्दिता देववन्मीने जन्मीवद् भजनेन सा।
साम्ना सन्धीय सीमार भासा पातु (जवा पुरि) ॥
सरोज पुरि वा शौरिः स वा पातु यसी रमा।
सा न जन्मीव वन्दे तां देवता वन्दितां (श्रिता) म् ॥

यह बन्ध एक अपूर्ण चित्र और उसमें लिखित अक्षरों के योग से बनाया है। इसका नाम, पठन-पद्धति और पूर्णपाठ न होने से इदमित्थं कहना सम्भव नहीं है। हमारा अनुमान है कि यह शक्ति अथवा वज्र का आकार होगा। इसमें दण्ड के नीचे वाले भाग में पाँच पत्रोंवाले पुष्प का आकार है और छठा पत्र दण्ड में मानने से यह षड्दल कमल का रूप होता है। इसके दो पत्रों में अक्षर नहीं थे जिन्हें हमने पूर्ण किया है। तदनन्तर एक गोलचक्र में होता हुआ दण्ड ऊपर निकलता है। चक्र में चन्द्राकृतियां बनी हैं जिनमें दूसरी बाहर निकली हुई है और उसके दोनों पार्श्वों में दो-दो वर्ण लिखे हैं। जब कि प्रथम चन्द्र में तीन वर्ण हैं। तीसरे चन्द्र में पाँच और चौथे में तीन अक्षर हैं। शिखर पर भी एक अक्षर है।[1]

---

१. इस आकृति का कोई बन्ध अब तक देखने में नहीं आया है अतः यदि कोई विद्वान् इससे परिचित हों, तो सूचित करने का अनुग्रह करें।

पञ्चमं प्रकरणम्

[प्रकीर्ण-चित्रबन्ध-विलासः]

[१]

सर्वतोभद्र-बन्ध

या माता ममता माया, माररात्व-त्वरा रमा ।
ताराशाववशा राता, मत्ववत्यत्यवत्वम ॥

उपक्रम—प्रकीर्ण रूप से ऐसे बहुत से चित्र बने हैं और बन रहे हैं जिनका कोई एक क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता । अतः ऐसे चित्रबन्धों को 'प्रकीर्ण' में स्थान दिया जाता है । यहां भी कुछ चित्रबन्ध दुष्कर हैं तो कुछ पाठ-चित्र । कुछ प्रस्तार रूप हैं तो कुछ भ्रमण-रूप । अतः उन्हें इस प्रकरण में स्थान देते हुए उनका विवेचन किया जा रहा है—

यह बन्ध प्रत्येक चरण के आरम्भ के चार अक्षरों के गतागत अथवा लोम-विलोम पाठ से बना है । यह केवल चार-चार कोष्ठकों वाली चार पंक्तियों में सोलह अक्षर लिखने से पूरे पद्य का सूचक होता है । वैसे इस बन्ध की सर्वप्रथम उद्भावना आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में की है और उसका लक्षण—

तदिष्टं सर्वतोभद्रं सर्वतो भ्रमणं यदि ॥३।८०॥

दिया है जिसमें सामान्य निर्देशमात्र है ।

इसके अनुसार यह चौसठ कोष्ठकों आठ-आठ कोष्ठकवाली आठ पंक्तियों में लिखा जाता है । कहीं से भी इसका पाठ किया जा सकता है. प्रथम चार पंक्तियों में क्रम से पद्य लिखा जाता है और नीचे पांचवीं पंक्ति में चौथा चरण, छठी में तीसरा चरण, सातवीं में दूसरा चरण और आठवीं में पहला चरण लिखते हैं । हमने इसे चार चरणों में ही लिखकर उदाहृत किया है । इस पद्य में तारा देवी की स्तुति अभिप्रेत है ।

[२]

अर्धभ्रमक-बन्धः

राम त्वमसि मे नुत्यो मतिमानर्च्यमाननु ।
त्वमाद्योऽस्यदरो भा मे मनस्यहिभृदर्च्यसि ॥

यह भी सर्वतोभद्र के दूसरे प्रकार को लक्ष्य में रखकर बनाया हुआ पद्य है ।

इसकी पठन-पद्धति में आधे चरणों का भ्रमण होता है इसलिये इसका नाम 'अर्ध-भ्रमक' है। आठ कोष्ठकों वाली चार पंक्तियों में पूरे पद्य को लिखकर १-८, २-७, ३-६, ४-५ संख्यक खड़ी पंक्तियों में पहले चार वर्ण ऊपर से नीचे और अग्रिम चार नीचे से ऊपर की ओर पढ़ने से पद्य पूरा होता है। इसका लक्षण भी दण्डी ने 'काव्यादर्श' में—

प्राहुरर्धभ्रमं नाम, श्लोकार्धभ्रमणं यदि ॥३।८०॥

यह दिया है। यहां प्रस्तुत पद्य से श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति की गई है।

[३]

तुरग-पदपाठ-चित्र-बन्धः

शिवे मत्या देह्यदभ्रं दानवं त्वमशावस ।
गन्धो विदं धिया विद्या प्रसरासि किमु प्रद ॥

भारतीय क्रीडावर्ग में **'चतुरङ्ग-क्रीड़ा'** का बड़ा महत्त्व रहा है। इस क्रीड़ा के लिए बने हुए फलक पर जो राजा, मन्त्री, अश्व, गज, पदाति आदि की सारिकाएँ-मोहरें होती हैं उनकी गति में अन्तर होता है। उसी के आधार पर यह बन्ध भी बनाया गया है। अश्व-तुरग की गति वहां भिन्न है, जिसमें वह ढाई घर चलता है। अर्थात् दो कोष्ठक सीधा चलकर आधे घर की पांचवीं चाल के लिये दूसरी संख्यावाले घर के नीचे या ऊपर, बांए अथवा दाएं भाग के घर में प्रवेश करता है। सारांश यह कि पूरे बत्तीस कोष्ठकों में अपनी गति के अनुसार वह घूमता रहता है और सभी कोष्ठकों में उसकी गति हो जाती है। इस दृष्टि से जहाँ-जहाँ उसकी गति के ढाई घर पूरे होते हैं वहां के अक्षरों का चयन करने पर भी वही पद्य बनता है, जो कि चार पंक्तियों में श्लोक के रूप में लिखा है। इसी का लक्षण अमरचन्द्र यति ने निम्न लिखित दिया है—

श्रीत्रिंशन्नवविंशतित्रयजिनश्रीकण्ठषड्विंशती—
न्यूनाविंशतियुग्मपौषदशमावेक्षत्रयोविंशतिः ।
सत्रिंशद्विपसत्कलाभुवनतत्तुषड्वर्गवर्णांशुमत्—
सेनापक्षसुलक्षणस्वरसमासार्कद्विविंशाः शराः ॥

(३ प्रतान, ५वाँ स्तबक, काव्यकल्पलता वृत्ति)

वहीं लेखन के लिये यह लक्षण भी दिया है —

क्रमात् पादचतुष्केऽस्य, पङ्क्तिशः परिलेखिते ।
तुरङ्गपदयातेन, श्लोकोऽन्य उपजायते ॥ २।३०७ ॥

इसी के अनुसार उपर्युक्त पद्य निर्मित है और इससे अन्य पद्य की भी सृष्टि होती है। वह पद्य निम्नलिखित है—

[४]

[तुरग-पदपाठ-चित्रबन्धसमुद्धृतं पद्यम्]

शिव देव दयासिन्धो मम दद्या मुदं सदा ।
विप्रनत्याधिप्रसह्य विभ्रं शाकित्ववेगरा ॥

यह पद्य पूर्व पद्य के अक्षर-चयन से प्राप्त है। इन दोनों में कवि ने भगवान् शिव की स्तुति की है।

[५]

एकाक्षर-मुरज-बन्धः

शिवा मम त्वा समकाम-मन्युजं,
क्षमस्यदा मन्तु समग्रमामयम् ।
विमर्दितुं मङ्क्षु नमस्कतोमसे,
भजाम मह्याममलाममन्त्रकम् ॥

भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है—

श्लोकस्यैतस्य पादेषु, लिखितेषु चतुर्ष्वपि ।
त्रिमृदङ्गकरीह स्याच्चतुरेकाक्षरावली ॥ २।१२३ ॥

इसके अनुसार प्रथम पाद के अक्षर से आरम्भ करके चतुर्थ पादस्थ अक्षर तक एकजातीय चार-चार अक्षरों को मिलाने से मुरज की आकृति में लिखित तीन मुरजों में प्रत्येक के दोनों पार्श्व और ऊपर-नीचे के भागों में आठ समानाक्षरों की योजना होती है।

यहाँ श्लिष्ट 'म' अक्षर की आवृत्ति दर्शनीय है। कवि ने इसमें भगवती की स्तुति की है।

[६]

मुरज-प्रस्तार-बन्धः

के वा भालं नुवत्येवं स शशिप्रभमस्तक ।
विदावासे यत स्वान्ते सपर्यादिकृदाश्रिते ॥

मुरज का ही अन्य-प्रकार 'प्रस्तार' पद से व्यक्त करते हुए भोज ने वहीं इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है—

क्रमेणैवास्य पादेषु, प्रसृतेषु चतुर्ष्वपि।
तुर्यान्मुरजमार्गेण, श्लोकोऽयमुपजायते ॥ २।११४ ॥

इसके अनुसार चारों चरणों को अन्तर्निहित मुरजों में पङ्क्तिबद्ध लिखा जाता है। तथा चौथे चरण के प्रथमाक्षर से आरम्भ कर जिस मार्ग से मुरजाकृति मिलती हैं वहाँ के अक्षरों का चयन करने पर अन्य श्लोक की उत्पत्ति भी होती है। इसका द्वितीय पद्य इस प्रकार है—

[७]

मुरज-प्रस्तार-बन्ध-समुद्धृतं पद्यम्

सदाशिवं नुमः स्वान्ते केशवादि-कृतस्तवम्।
विपर्यासे प्रभावास-वात्येवं भवदाश्रिते ॥

यह पद्य पूर्वपद्य के अक्षरों के चयन से प्राप्त है। इन दोनों पद्यों से कवि ने भगवान् शिव की पूजा का महत्त्व बतलाते हुए प्रणाम किया है।

[८]

कपाट-बन्धः (?)

प्राप्त पाण्डुलिपि में एक बन्ध का चित्र और दिया हुआ है। इस बन्ध का मूल पद्यपाठ नहीं मिला है और न ही प्रयास करने पर भी उसका कोई रूप निश्चित हो पाया है। इस बन्ध का रेखा-चित्र अन्त में है।

—: ० :—

इति महामहोपाध्याय-साहित्याचार्य-महाकविवर-

पं० श्रीरामावतारशर्म-विरचिता

'चित्रबन्धावतारिका'

पं० रमाकान्तशर्मसुत-डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठि-विरचित-

हिन्दी **'वन्दना-वृत्ति'**-वन्दिता'

समाप्ता।

चित्रबन्धफलकावली

वर्ण-विन्यासरुचिरां, गत्याकारादिचित्रिताम् ।
चित्रां चिनुत धीमन्तश्चित्रालङ्कार-पद्धतिम् ॥

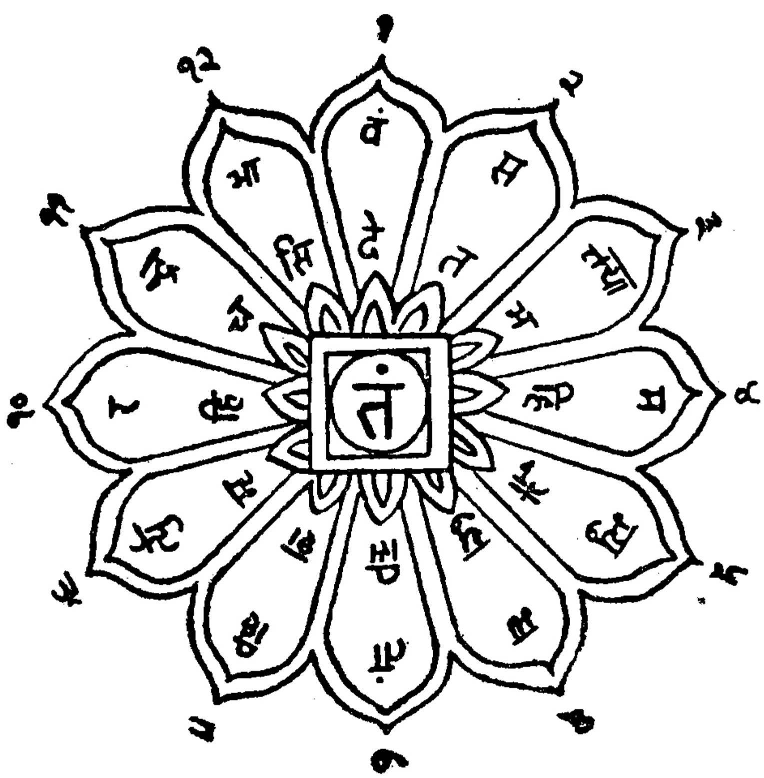
(रुद्रस्य)

१. अयुग्मार्ध समाक्षर-गोमूत्रिका.चित्रबन्ध

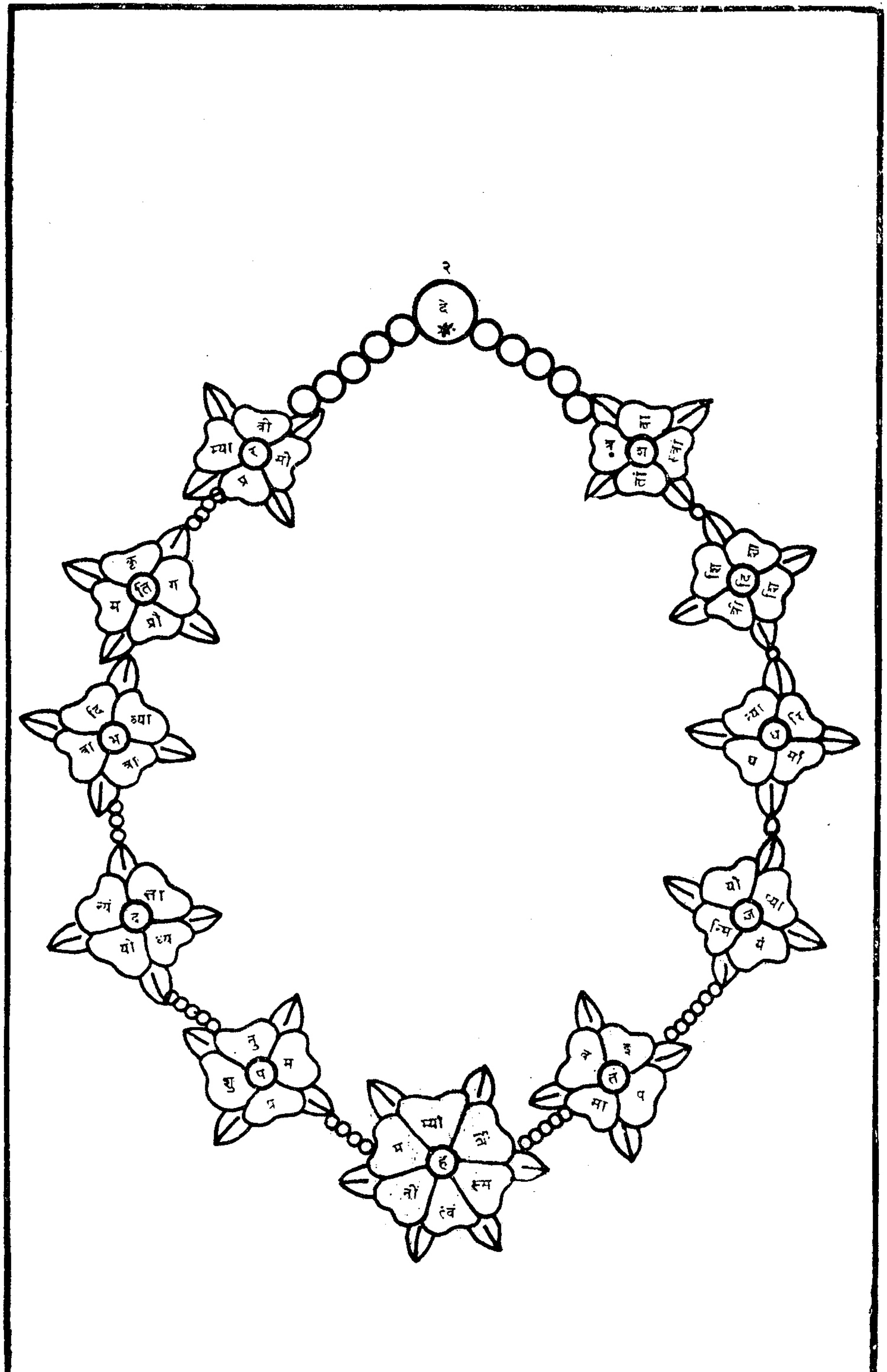
पृष्ठ ४

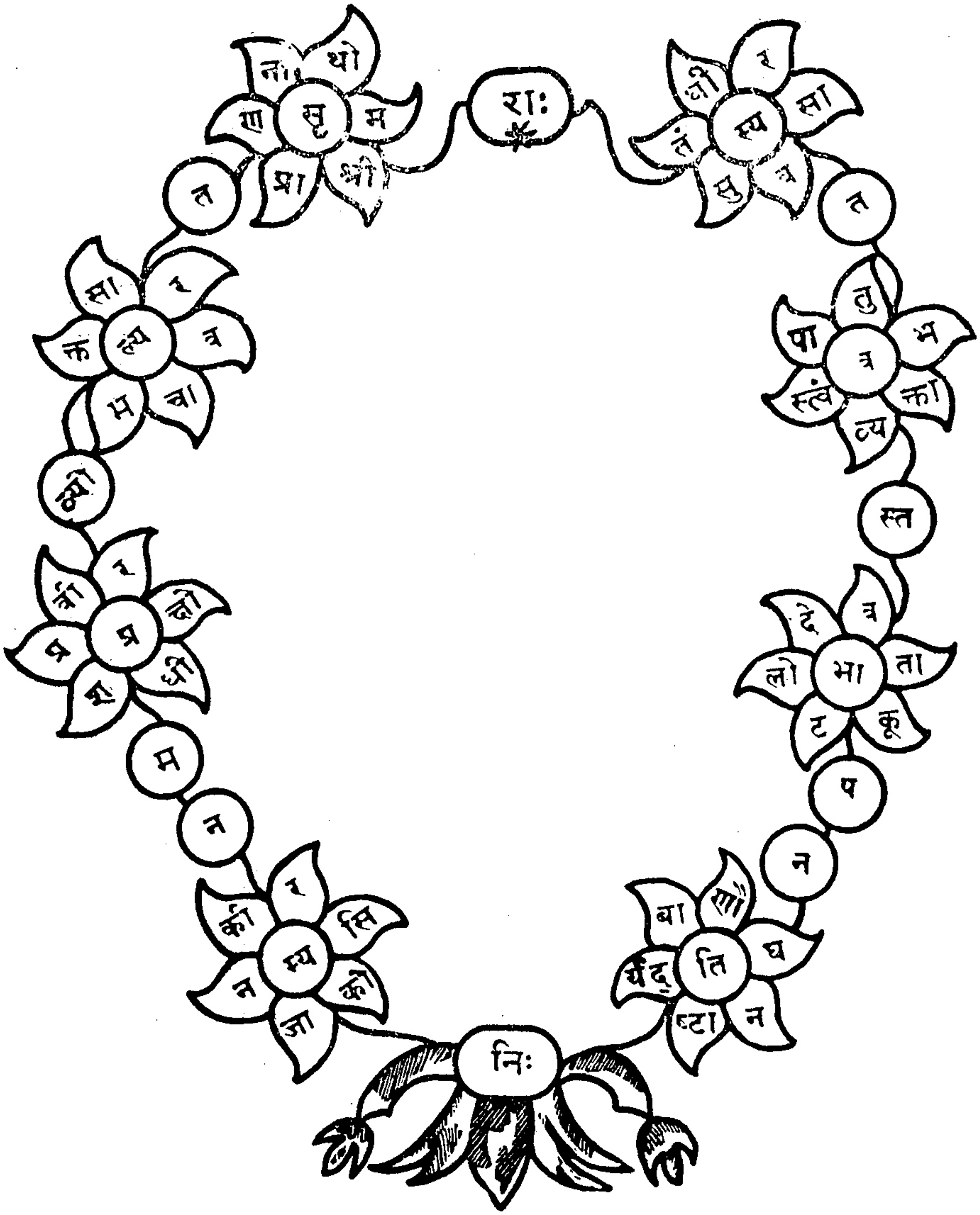
शि	व	न
पा	हि	या
स	दा	मु
दा	सं	श्वा
त	व	भ
पा	द	वे
स	मा	र
श्रि	तम्	द्भु

२. द्वादशदल-कमल-बन्ध पृष्ठ ११

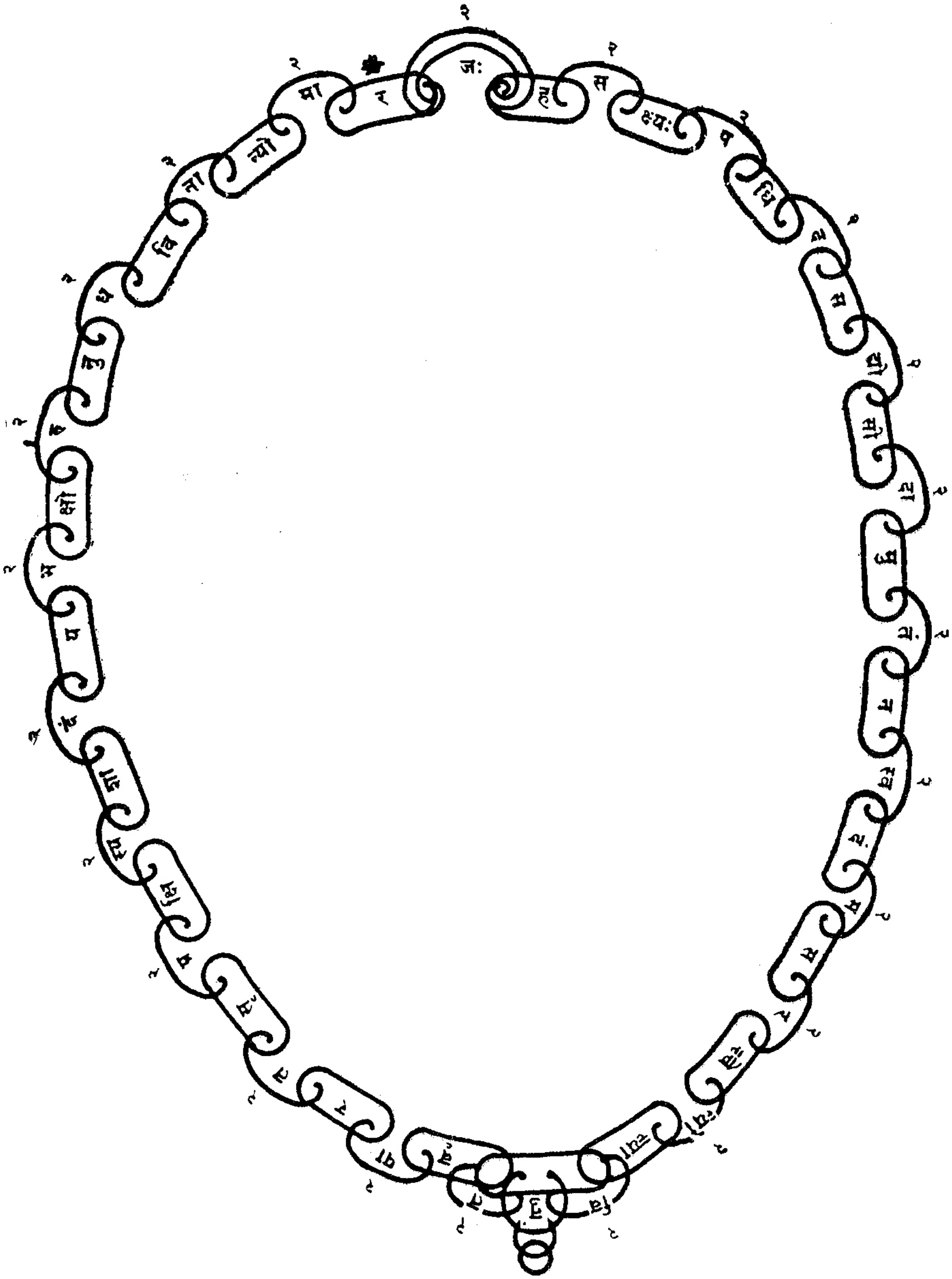


३. हार-बन्ध (ग्यारह पुष्प एवं ग्रन्थियुक्त) पृ० १६

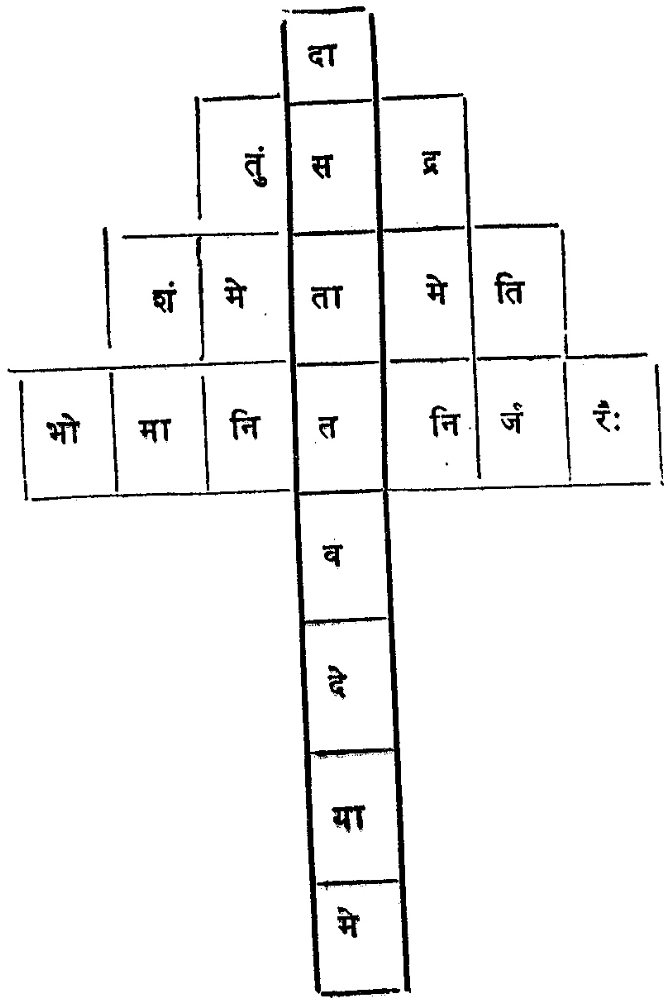




५. हार-बन्ध (शृङ्खलामय) पृ० १८



६. छत्र-बन्ध (प्रथम) पृष्ठ २०



७. आतपत्र-बन्ध (तृतीय) पृ० २१

					शि					
				व	व	ल				
			यि	त	त	क्ष	का			
		दि	का	हे	व	स	नि	त		
	ष्टे	ह	द्वं	या	द	द	स	क्क	दि	
ज	ग	ति	वि	त	त्त	थ्य	की	र्ति	रा	शे
					मि					
					दं					
					सि					
					ता					
					त					
					प					
					त्र					
					म्					

८. सर्वतोभद्र-चित्रबन्ध पृष्ठ २६

रा	म	त्व	व	सि	मे	नु	त्यो
म	ति	मा	न	र्च्य	मा	न	नु
त्व	मा	द्यो	स्य	द	रो	भा	मे
म	न	स्य	हि	भृ	द	र्च्य	सि

९. अर्धभ्रमक-चित्रबन्ध पृष्ठ २६

या	मा	ता	म
मा	र	रा	त्व
ता	रा	शा	व
म	त्व	व	त्य

१०. तुरग-पद-पाठ-चित्रबन्ध पृ० ३०

१ शि	३० वे	९ म	२० त्या	३ दे	२४ ह्य	११ द	२६ भ्रं
१६ दा	१९ न	२ वं	२९ त्व	१० म	२७ शा	४ व	२३ स
३१ ग	८ न्धो	१७ वि	१४ दं	२१ धि	६ या	२५ वि	१२ द्या
१८ प्र	१५ स	३२ रा	७ सि	२८ कि	१३ मु	२२ प्र	५ द

११. एकाक्षर-मुरज-चित्रबन्धः पृ० ३१

शि	वा	म	म	त्वा	स	म	का	म	म	न्यु	जं
क्ष	म	स्स	दा	म	न्तु	स	म	ग्र	मा	म	यम्
वि	म	र्दि	तुं	म	ङ्क्षु	न	म	र्स्क	तो	म	नो
भ	जा	म	म	ह्या	म	म	म	ला	म	न्त्र	कम्

१२. मुरज-प्रस्तार-चित्रबन्ध पृ० ३१

के	वा	भा	वं	नु	व	न्त्ये	वं
स	श	शि	प्र	भ	म	स्त	क
वि	दा	वा	से	य	त	स्वा	न्ते
स	प	र्यां	दि	क्ष	दा	श्रि	ते

१३. (सम्भावित) कपाट-चित्रबन्ध पृ० ३२

श्री	नो	धी	न्यः		क्षी	त्वां	यं	का
				मा				
प	भि	न्वि	लि		न्य	प	द	नु
				द्या				
म	नृ	ध	न		व	तु	द	भ
				र				
श्री	स्ता	स्त्री	स्का		स्वै	क्ष्यं	श्शू	म्यात्
				स				
मु	र	म	सि		ह	हृ	षि	वं
				प				
यः		सः			य		प	

L-B.

B-S.